आग और आँसू

शकुन्तला भार्गव 'अर्चना'

"आपकी कविता पुस्तक 'वर्जित-देश एवं दिग्वसना' का अवलोकन किया। निश्चित ही सृजन में मौलिकता एवं संवेदना का स्वर है। 'दिग्वसना' के अनेक छन्दों का काव्य-सौष्ठव ! एवं द्रवणशीलता पाठक को भावविह्वल करने में सक्षम है।

'वर्जित देश' में गोपी विरह के *चिर परिचित परम्परित संवेदनशील* भागवत के अंश को नए भावबोध एवं शैली में सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है।"

भवदीय

मदनमोहन 'उपेन्द्र'

'अभिव्यक्ति'

अपर केनाल कालोनी, मथुरा

आग और आँसू

शकुन्तला भार्गव 'अर्चना'

प्रथम संस्करण : १९७३

मूल्य : १९ रु.

मुद्रक : साधना प्रेस, जोधपुर

प्रकाशक : प्रदीप प्रकाशन

सम्पर्क : शकुन्तला भार्गव 'अर्चना'

कमला नेहरू हॉल, जोधपुर

मानवता के उस महास्वप्न को

जब मनुष्य मात्र
अपने राग-द्वेष, क्रूरता-भय, महत्त्वाकांक्षा-हीनता, दंभ-दीनता
के चेहरे देख सकने में समर्थ होकर
स्वयं का परिचय पा सकेगा !
लिंग-वर्ण-वर्ग-जाति-सम्प्रदाय-धर्म-देश की
भेद-दृष्टि से मुक्त हो पाएगा !
लोभ-घृणा-महत्त्वाकांक्षाजन्य युद्ध-परम्पराएँ छिन्न हो जाएँगी !
मनुष्य-मनुष्य के बीच की दीवारें गिर जाएँगी !
मानव-जीवन सम्मान और सम्भ्रम का विषय होगा !
धरती पर प्रेम का शासन होगा !
जीवन का प्रतीक 'आग' और 'आँसू' न रहेंगे !

स्वोक्ति

किशोरावस्था की आयु कुछ ऐसी ही अनगढ़ होती है । अपनी अस्मिता की आकुल, अचेतन खोज आरम्भ हो जाती है। सामने जो भी आकर्षक रूप आता है, व्यक्तित्व उसी मे ढल जाना चाहता है। इसीलिए इस 'आदर्श-पूजा' (herc-worship) की अवस्था में कोई सहारा, कोई आदर्श चाहिए ही। मेरे मन में भी, इस आयु में गरिमामयी नारियों के जीवन के प्रति तीव्र आकर्पण और जिज्ञासा रही, जिसका क्षेत्र आयुवर्द्धन के साथ शनैः शनैः विकसित होते-होते, आदर्श से असामान्य तक फैलता गया। सती, सीता, कुन्ती द्रौपदी, राधा, रजिया, रत्नावली, नूरजहाँ, जहाँनारा, जेबुन्निसा, जोन आफ आर्क आदि के प्रसग मेरे मन में विविध भाव-वीचियों और घनीभूत कौतूहल की सृष्टि करते थे; विशेष रूप से कुन्ती, द्रौपदी, राधा आदि की विशिष्ट जीवन-परिस्थितियाँ और मुगल कुमारियों की असाधारण प्रतिभा, सौन्दर्य और वैभव के साथ उनके जीवन की असीम करुण विवशता सदा ही मेरे मन को अस्थिर करती रही हैं।

मेरी अपनी दृष्टि में नारी जीवन की व्यथा, करुणा, शृंगार, विद्रोह, वात्सल्य, ममता आदि को नारी की लेखनी अधिक सहज वाणी दे सकती है, पुरुष के पौरुष और ओज की कल्पना सामान्य रूप से उसके लिए अपेक्षाकृत अगम्य हैं। सिर खुरच कर लिखने जैसी अति बौद्धिक सृजन-प्रक्रिया मेरे लिए कभी अभीष्ट नहीं रही। काव्य के लिए ऐसी बौद्धिकता से यदि मैं छत्तिस का नाता नहीं मानना चाहती, तो उसके लिए उसे बहुत उपादेय और स्वाभाविक भी स्वीकार नहीं कर पाती!

सीमाओं, दायित्वों तथा प्रतिबद्धताओं से घिरे जीवन में केवल एक ही मेरा 'अपना' अलक्ष्य कोना रहा है, जिसमे मेरा 'जीना'—'होना' सम्भव होता है—वह है मेरा सृजन। शेष अधिकांश तो परिस्थिति की माँग के सामने 'अपने जीने को स्थगित करते चलना' ही 'जीने' का रूप होता है! इसीलिए सृजन अथवा कला मेरी मुक्ति का क्षण, मुक्ति का मार्ग, स्वयं मुक्ति ही है—एक मात्र मुक्ति! इसीलिए सृजन मे कही 'युग के मुहावरे', 'युगबोध', किसी 'वाद' विशेष से बँधने' प्रतिबद्ध होने की रुचि मुझ में नही है; केवल सहज होना, सहज बहना—'जीना' चाहती हूँ! वैसे, यह सृजन मेरे प्रतिबद्धताओ

से जकड़े जीवन की छाया होने से, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, क्या प्रतिबद्ध नही है ? इससे अधिक प्रतिबद्धता— अपने को विशिष्ट विषयों और शैलियों में बाँधने का असहज, प्रयत्नसाध्य संकल्प—क्या पुनः मुक्ति का नकार, जीवन का और अधिक अर्थात् पूर्ण स्थगन नही होगा ? सृजन मे सहज अनायासता न मिले तो कृत्रिमतापूर्ण भाव-शिल्प के बन्धन मे कला अवरुद्ध हो जायगी, और उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लग जाएगा ! सृजनात्मकता के अभाव मे जीवन की साँस घुटने लगेगी, सेफ्टीवाल्व बन्द हो जायगा, विस्फोट हो जायगा। व्यक्ति के जीवन और समाज में आज चतुर्दिक यह विस्फोट जो निराशा, कुंठा, उदासीनता, उग्रता, हिंसा, तोड़फोड़, उन्माद आदि के रूप मे प्रकट होकर साहित्य में अभिव्यक्ति पा रहा है, सो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह चिन्त्य है कि मात्र युग की एब्सर्ड परिस्थितियो का बोध और उनका चित्रण ही तो यथेष्ट नहीं। जीवन की सार्थकता परिस्थितियो के दुश्चक्र में पिसते हुए टूटने में नही, उनके निराकरण की कल्पना में, जीने में है। अतः युग की कुण्ठा और टूटन के साहित्य को ही आदर्श मानकर, उसे किसी वाद या प्रवृत्ति का नाम देकर अन्तिम मूल्य प्रदान करना भी कोई विवेकपूर्ण कसौटी नही ! किसी एक प्रवृत्ति को युग से संबद्ध कर इतर साहित्य को पिछड़ा या प्रतिक्रियापूर्ण घोषित करना जीवन और साहित्य को समग्रता में ग्रहण न करके केवल उसके अंश का स्वीकार है ! इस प्रवृत्ति का उदाहरण पाश्चात्य कला और साहित्य की निरन्तर बदलती हुई धाराओं में और अब हिंदी साहित्य मे भी पूर्ण रूप से देखा जा सकता है। इसका मूल है साहित्य और कला के व्यावसायीकरण (कॉमर्शियलाइजेशन) और उसके फलस्वरूप भयानक नेतृत्व की दौड़ मे। इस प्रक्रिया में साहित्य के क्षेत्र में भयानक भ्रष्टाचार पनपता है, सच्चे साहित्य की कसौटी खो जाती है। प्रचलित प्रवृत्ति के नेताओ की धांधली के अंधानुकरण में ऐसे कृतित्व और कृतिकारो की बाढ़ आ जाती है, और उसे प्रकाश भी मिलता है जिसमे बहुत कुछ थोथा, मिथ्या, अनुभूति-हीन और अर्थहीन अनुकरण मात्र होता है। लक्ष्यभ्रष्टता और दिग्भ्रमितता की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर उस हास्यास्पद स्थिति को प्राप्त कर लेती है जहाँ आज न्यूयार्क स्कूल की 'प्रत्ययात्मक कला' को देखा जा सकता है। इसका विस्तृत उल्लेख 'मृगजल' के 'निवेदन' मे किया जा चुका है, अतः इसके विश्लेषण के विस्तार में नहीं जाना चाहती, किन्तु इस विचार - बिन्दु को अवश्य रेखांकित करना चाहती हूँ कि साहित्य और कला पहले व्यक्ति या कृतित्व होकर फिर सामाजिक है। सच्चे साहित्य की प्रतिष्ठा के लिए नितान्त अनिवार्य है कि साहित्यकार अथवा कलाकार किसी एक युगीन प्रवृत्ति मे

अनुकरण में मिथ्या सृजन न करके, वह जहाँ है, जिस परिवेश और परिस्थिति मे है, और उसकी चेतना ने उस परिवेश से जो आत्मसात् किया है, उसका व्यक्तीकरण मुक्त भाव मे अपने प्रकन मे कर सके। कलाकार द्वारा यह आत्मसातित अरूप तत्त्व अभिव्यक्ति के लिए एक साकार रूप चाहता है। और इस साकार रूप को एक पृष्ठभूमि, एक परिवेश चाहिए। कलाकार की कल्पना किसी अकल्पनीय पटुतापूर्ण ढंग से इस आवश्यकता की पूर्ति कर लेती है। इसीलिए साहित्य की विविध विधाएँ और विविध रूप है। इस प्रकार से 'कलाकार का अपना युगबोध' स्वतः प्रकट होता है। और कला के लिए उतना ही युगबोध मूल्यवान है। शेष समाचार पत्रो और इतिहास का विषय है। मेरी रत्नावली, बन्धन, विसर्जन, चीर हरण, वर्जित देश, पटाचारा, उव्वरिका, दिग्वसना आदि रचनाएँ इसी आवश्यकता की पूर्ति— मुक्तिस्रोत के तट हैं। सन् १९५४ में 'बन्धन' की रचना के बाद सन् १९५६ मे जब २७ मार्च की रात्रि के ६ बजे अनायास ही मैंने 'जहाँनारा' का 'अन्तिम-पृष्ठ' लिखना आरम्भ किया तो मुझे तनिक भी अनुमान न था कि मैं एक महाकाव्य की रचना करने जा रही हूँ। इच्छा और कल्पना एक छोटा - सा खण्डकाव्य लिखने भर की थी। 'अन्तिम पृष्ठ' तथा एक-दो छुट-पुट प्रसंगों के लेखन के पश्चात् रचना यों ही पड़ी थी। २० अगस्त को कार्य पुनः प्रारम्भ हुआ और २३ सितम्बर को जैसे-तैसे समाप्त हो ही गया। इस पूरे माह में ही आविष्ट व्यक्ति के समान अविरत कार्य किया, परिणामस्वरूप इतनी श्रान्ति हुई कि इसको पुनरावलोकन हेतु अनेक बार निकाला किन्तु पूरा देखने का साहस नहीं जुट पाता था। प्रति वर्ष पाण्डुलिपि एक-दो बार निकलती, और पुनः प्रारम्भ के एक-दो सर्ग देखकर रख दी जाती। इस वर्ष ग्रीष्मावकाश में छोटामुरी (बिहार) मे यथेष्ट अवकाश पाकर इसके पुनरावलोकन का कार्य सम्पन्न हुआ।

कथा यद्यपि आत्मकथात्मक शैली मे है, तथापि यह जहाँनारा की किसी आत्मकथा का पद्यानुवाद नही है। कथा की उपादेय संकलित सामग्री के लिए इतिहास की विविध पुस्तकों, लेखों की अनुगृहीत हूँ, जिनका उल्लेख परिशिष्ट ३ मे किया गया है। इतिहास की पुस्तकों में जहाँनारा के जीवन की कुछ घटनाओं मात्र का संकेत मिलता है जिन्होंने तत्कालीन इतिहास को प्रभावित किया, किन्तु उसके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित सामग्री उनमें प्राप्त नहीं होती। कदाचित् सन् ५५-५६ के 'आजकल' में एक एकांकी बूँदी के राव छत्रसाल और जहाँनारा के प्रसंग मे प्रकाशित हुआ था, जिस पर पुनः दृष्टिपात करने का अवसर नही मिला। इस लेख ने मुझे आकर्षित किया। कुछ वर्ष पश्चात् श्री केशवकुमार ठाकुर की जहाँनारा की आत्मकथा मिली। यह कथा

कहाँ तक जहाँनारा द्वारा रचित है—ज्ञात नहीं। मुगल बादशाहों की आत्म-कहानी लिखने की प्रथा का संकेत करते हुए लेखक 'परिचय' में लिखते हैं—"इसी प्रथा का अनुसरण शाहजहाँ बादशाह की लड़की जहाँआरा ने किया था। उसने अपने कारावास के बन्दी जीवन में अपनी आत्मकथा लिखी थी। उस आत्मकथा में जहाँनारा ने अपने जीवन की साधारण और असाधारण घटनाओं के साथ ही साथ मुगल दरबार की अनेक गुप्त और रहस्यमयी बातों का उल्लेख किया था।" (पृष्ठ १)

उसने अपनी पुरानी स्मृतियों के आधार पर अपनी आत्मकहानी लिखी और उसकी यह आत्मकहानी काश्मीर से फारसी में प्रकाशित हुई। उसी के आधार पर जहाँनारा की आत्मकथा प्रस्तुत करने का मैंने प्रयास किया है। ······ आत्म कहानी की प्रत्येक सामग्री जितनी ही रोचक है उतनी ही ऐतिहासिक भी है। परन्तु जहाँनारा की इस आत्म कथा में उसकी कहाँ तक रक्षा हो सकी है, उसे मैं स्वयं नहीं जानता।" (पृष्ठ १०)

'कृतज्ञता' में वह लिखते हैं—"इस पुस्तक की सामग्री जुटाने का कार्य कटकाकीर्ण था। उसका मूल स्रोत अत्यन्त छिन्न अवस्था के असाध्य रूप में है, उसका अनुसन्धान करना शुक्ल जी (आदर्श हिन्दी पुस्तकालय के अध्यक्ष पंडित गिरधर शुक्ल) का ही काम था। उसी अवसर पर श्री माखन लाल राय चौधरी के द्वारा प्रस्तुत बंगला में "जहानारार आत्मकाहिनी" मुझे मिली। जहाँ तक जहाँनारा की आत्मकथा की सामग्री का प्रश्न है, इसकी भी वही अवस्था है। अपनी प्राप्त सामग्री का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग करके भी मैंने श्री माखन लाल की पुस्तक से बहुत कुछ सहायता प्राप्त की है। इस प्रकार जहाँनारा की आत्मकथा अनेक स्थलों के सम्पादन, संकलन और लेखन के पश्चात् तैयार हो सकी है।" (पृष्ठ १२)

श्री केशव कुमार ठाकुर ने जो अपनी जहाँनारा की आत्मकथा की सामग्री के विषय में लिखा है, वही मेरे 'आग और आंसू' के लिए भी उतना ही सत्य है। मैंने श्री ठाकुर की पुस्तक से बहुत कुछ सहायता प्राप्त की है! इस कथा की ओर मेरा मन इतनी तीव्रता से आकर्षित था कि काव्य-कथा मन में एक रूप लेती रही। यही सोचा कि ऐसी कथाओं का उपयोग कर लेने की साहित्यिक परम्परा रही है और यह सम्भाव्य भी है। उसमें कुछ असमीचीनता भी नहीं। साथ ही नायिका के चरित्र को, जहाँ यह कथा अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करके अधिक मानवीय बनाने में सहायक है, वहाँ यह सम्भाव्यता, शालीनता और रोमांस से युक्त होने के कारण पाठक के मन में

भी आकर्षण और कौतूहल की सृष्टि करती हुई नायिका के जीवन-क्षितिज का विस्तार करती है। अतः आत्मकथा से मैंने जहाँनारा-छत्रसाल सम्बन्धी कथांश, उसकी अन्तरंग जीवानुभूतियों के चित्रण के लिए लगभग यथावत् आधार के रूप में स्वीकार कर लिया। जो रूप मैं इस ग्रन्थ को शोध द्वारा पूर्ण ऐतिहासिक धरातल पर इसकी प्रतिष्ठा करके देना चाहती थी, उस लक्ष्य तक तो कामना का तीर पहुँच न सका, फिर भी इसकी रचना कर मुझे तृप्ति हुई है।

जहाँनारा के व्यक्तित्व का बहुत बड़ा आकर्षण उसके दुःखात्मक (tragic) व्यक्तित्व में है। संसार के समस्त वैभव के उत्कर्ष के चरम बिन्दु की उपलब्धि को भी चिढ़ाने वाली परिस्थितियों का विरोधाभास अत्यन्त करुण है। उसके जीवन के ये दो छोर कैसे विडम्बनामय हैं—एक ओर 'कितना सुख! वैभव!! नहीं ओर, प्राणों से भोगा भी न जाय' की स्थिति है, तो दूसरी ओर—

'दुख और पराभव का न छोर सह भी न सके, दिल-बैठ जाय' की। मुगल साम्राज्य की लाड़ली शाहजादी हो कर भी उसे कहना पड़ा—

"आग और आँसू दो बाजू, जलते गलते जीवन के;
जिनमें क्रमशः करवट लेते, बीत रहे क्षण इस जन के।"

इस ट्रेजेडी के तत्त्व बहुत कुछ ग्रीक ट्रेजेडी जैसे हैं! शाहजहाँ—भारत का प्रसिद्ध महान वैभवशाली सम्राट्; दारा—इस सम्राट् का लाड़ला पुत्र, युवराज और महान विद्वान्; जहाँनारा—सम्राट् की अत्यन्त प्रिय पुत्री जिसके शब्द साम्राज्य में कानून के समान पालित होते थे। शाहजादे शाहशुजा, मुराद, सुलेमान शिकोह आदि सभी ऐसे ही पात्र हैं। यहाँ तक कि इस काव्य के खलनायक औरंगजेब में भी अपने प्रकार की महानता थी। उसके लिए कहा गया है—"His life would have been a blameless one if he had no father to depose no brothers to murder and no *Hindu subjects to oppress.*"

जगत का अखिल वैभव चरणों पर लोटते हुए भी जहाँनारा के प्राणों की पुकार कितनी सामान्य और तुच्छ है; किन्तु दुर्भाग्य कि मुगल साम्राज्य की राजनन्दिनी की वह सामान्य इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती! उसे एक नारी का सहज सुख—पत्नीत्व, मातृत्व उपलब्ध नहीं हो सकता! ऐसी है उसके जीवन की विडम्बना-ज्वाल, जिसमें उसके मूक प्राण निरन्तर जलते हैं। उस पर उसके एक-एक सहारे नियति छीनती जाती है—प्रेमपात्र बूँदी-राव छत्रसाल, भाई दारा, अन्त में पिता—जिनके लिए उसने अपना जीवन संकल्पित

किया। मृत भाई दारा की अनाथ कन्या जानी (जहानजेब बेगम) को पालने के अवसर को वह सौभाग्य के रूप में ग्रहण करती है। जीवन के कठोर लेख को वह किसी प्रकार झेलती है। उसकी आत्मा का रूप उसके उन शब्दों में बिम्बित है जो उसने अपनी कब्र के पत्थर के लिए लिखे—

"बगैर सब्जे न पोशद कसे मज़ार मेरी
कि सब्ज पोश गरीबान हमे गियाह बस अस्त।"

अर्थात् हमारे मज़ार पर हरी घास के अतिरिक्त कोई ढकना (आवरण) न होना चाहिये, क्योंकि गरीबों के लिए घास का आच्छादन ही सर्वोत्तम है।"

सच तो यह है कि गरीब विवशता से गरीब होते हैं, हृदय से सर्वहारा कम होते हैं, किन्तु वह साक्षात् लक्ष्मीरूपा होकर भी अन्तःकरण से सर्वहारा हुई! "उसकी सम्पत्ति दान के लिए और ऐश्वर्य का अधिकार त्याग के लिए था। जीवन में वह एक फकीर बन कर रही और मरते हुए भी अपना ऐसा स्मारक छोड़ गई, जिसकी अपेक्षा प्रभावशाली और हृदयद्रावक स्मारक कहीं मिलना कठिन है।" उसका निधन ६ सितम्बर १६८१ को हुआ।

तत्कालीन कतिपय इतिहासकारों ने जो पिता-पुत्री के सम्बन्ध को लेकर कीचड़ उछाली है, उस चर्चा को घसीटने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। अनेक वर्तमान इतिहासकारों ने तर्क देकर इस कल्पना को अत्यन्त व्यर्थ, नीचे स्तर की बकवास और असम्भव माना है, तथा ऐसा सिद्ध करने का प्रयास किया है। फिर वह इस काव्य की नायिका है, अतः उसके नायिका रूप की रक्षा के लिए भी यही पथ उचित लगा। जाफरखाँ और नजबतखाँ की चर्चा में हल्के स्तर पर इस प्रसंग को उठाकर वहीं उसकी व्यर्थता सिद्ध करके समाप्त कर दिया गया है।

'आग और आँसू' की रचना आत्मकथात्मक शैली में है, वह भी अधिकांश स्मृतियों के रूप में और उसकी सुविधाओं एवं कठिनाइयों से युक्त। इस शैली से भावात्मक तीव्रता अनायास आ पाती है, पाठकों का नायिका से सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता है, और प्रतिक्षण लेखक के व्यक्तित्व—माध्यम के बोध का अन्तराल हट जाता है, किन्तु साथ ही लेखक को अपनी निरंकुशता पर नियमन और विमुत्व का संवरण भी करना पड़ता है। जैसा आरंभ में कहा जा चुका है पहले कथा का आरंभ 'अन्तिम पृष्ठ' से करने का विचार था, किन्तु बाद में कथानक जिस प्रकार विकसित हुआ उसमें क्रम को बदलना आवश्यक हो गया। अनुभूतिक्रम और जीवन-घटना-क्रम एक होता भी नहीं है। कथा-प्रवाह को अक्षुण्ण रखने के लिए अनेक जोड़-तोड़ आवश्यक हो गये हैं। स्मृति आगे-पीछे

चलती है, कालक्रम के अनुबन्ध से नहीं बँधती। कथा का प्रमुख भाग 'अन्तिम पृष्ठ' पर एक प्रकार से समाप्त हो जाता है। मूल आत्मकथा में कहाँ तक की कथा है, नहीं जानती, किन्तु मेरी कल्पना ने यहाँ काव्य का सा रूप धारण कर लिया था; अतः जहाँनारा के जीवन के शेष सोलह वर्षों को यों ही छोड़ देना उचित प्रतीत न हुआ, अतः इनको समेटने के लिए 'उड़ते पत्ते' सर्ग की अवतारणा हुई है। चरम सीमा के बाद यद्यपि इससे प्रभाव में कदाचित् कुछ शिथिलता या बिखराव आया हो किन्तु मेरी अन्तःप्रेरणा इसे लिखने की ओर रही!

काव्य में १६ सर्ग हो गए हैं। प्रारंभिक सर्गों में छन्दों का विशेष वैविध्य नहीं है। तीसरा सर्ग (१६-१६ मात्रा) छोड़ कर अन्य सर्ग (१६-१४ मात्रा) के हैं। 'अन्तिम पृष्ठ' में मात्रा क्रम (१०-६) है। अन्तिम सर्ग 'उड़ते पत्ते' में भावों की विभिन्नता एवं समय के अन्तराल को स्पष्ट करने के लिए सुविधानुसार विभिन्न छन्दों का प्रयोग उचित जान पड़ा।

इस रचना का उद्देश्य, केवल कथा का पद्यानुवाद करना मात्र नहीं है। प्रधान लक्ष्य है जहाँनारा के जीवन की खिड़की से जीवन के उस आत्मबोध के दर्शन का प्रयास— जिसकी झलक अपने चरम उतार-चढ़ाव भरे, बहुत बड़े पैमाने पर जीए गये, सम्पन्न एवं विपन्न, विविध रंगी जीवन में उसने देखी थी; जिसकी अनुभूति उसके प्राणों को निस्सन्देह हुई होगी! एक ओर आदर्श जीवन का वह विराट् स्वप्न जिसे सम्राट् अकबर ने, दारा ने, महाकवि तुलसी ने, जहाँनारा ने देखा था; दूसरी ओर मुगल साम्राज्य के वृहद् पट पर खिंचता हुआ वह जीवित गतिशील चित्र जिसमें मानव की निम्नतम प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं, जिनकी वह भुक्तभोगी थी! स्वप्नद्रष्टा तुलसी ने जीवन के इस नारकीय स्वरूप को देखा था और उसके प्रतिकार के लिए एक आदर्श समाज और रामराज्य का यूटोपिया प्रस्तुत कर दिया कि यदि मनुष्य चाहे तो इस नर्क को बदल कर 'मानस' के स्वर्ग का निर्माण इसी धरती पर कर सकता है, पर दुर्भाग्य, उनके प्रेमी उनको चतुःशती धूमधाम से मना रहे हैं, पर उसी स्वनिर्मित नर्क में जी रहे हैं। फिर भी तुलसी का कालजयी सपना (vision) हमारी आँखों के सामने जब तक जीवित है तब तक आशा है!

सम्राट् अकबर द्वारा दी गयी व्यवस्था का विधान था कि मुगल शाहजादियों के विवाह न होंगे। ऐश्वर्य की गोद में पली, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की साकार प्रतिमा, इस राजदुलारी का इस अस्वाभाविक, क्रूर एवं विकृत व्यवस्था के प्रति स्वस्थ विद्रोह पूर्ण स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त

चिरकालीन समाज-व्यवस्था, जो नारी और पुरुष के प्रति न्याय के मानदण्डों में अन्तर मानकर चलती है— उसके प्रति किसी भी सचेतन नारी के मन में विद्रोह होना अपरिहार्य है। दारा— राजकुमार का, पुरुष होने के नाते नर्तकी से विवाह मान्य है और हिन्दू राजपुत्र से जहाँनारा का सम्बन्ध अमान्य! दारा को अत्यन्त स्नेह करते हुए भी, भाई-बहन, नर-नारी के बीच न्याय की विडम्बना करने वाली मानदण्ड की भेदवृत्ति उसके मन को खटकती है। इसी प्रकार अमीर नजवतराँ की नारी को पुरुष की सम्पत्ति मात्र मानने वाली हीन भावना उसे सह्य नहीं। एक बार काजी और मुल्लाओं ने सम्राट् औरंगज़ेब से स्त्रियों की भूषा और सुरा-पान पर कुछ पाबन्दियाँ लगाने के आदेश प्राप्त किए तो जहाँनारा ने नारी जाति के दमन की दिशा में उठती हुई इस आँधी को अपनी पूरी शक्ति के साथ विरोध करते हुए शान्त करने का प्रयत्न किया था। मानव सभ्यता के इतिहास में विकसित न्याय के इस द्विविध मान (double standard) के प्रति नारी चिरकाल से विरोध और विद्रोह करती आई है, जिसका प्रसार सीता, द्रौपदी आदि की न्याय के लिए विद्रोहयुक्त पुकार से लेकर आज के विश्वव्यापी नारी - स्वातन्त्र्य (woman's lib) आन्दोलन तक देखा जा सकता है।

जहाँनारा नारी होते हुए भी शाहजहाँ की सन्तानों में सबसे अधिक अभिज्ञ, प्रतिभाशालिनी एवं दूरदर्शितापूर्ण थी! बौद्धिकता में उसके कुछ निकट औरंगज़ेब ठहरता है, किन्तु वह अपनी हृदयहीन शुष्क कट्टरता, भेदवृत्ति, घृणा से मित्रों को भी शत्रु बनाता चला गया जिससे उसके जीवन काल में ही मुगल साम्राज्य के पाए निर्मूल हो गए। दोनों की प्रवृत्तियों में ध्रुवों का विरोध था। दारा के पक्ष में होते हुए भी उसके हृदय की अत्यन्त उदार मानवीयता के कारण औरंगज़ेब उस पर विश्वास कर सका; वह औरंगज़ेब, जिसने कदाचित् ही जीवन में किसी पर विश्वास किया हो! इस बात की पुष्टि इन तथ्यों से होती है कि पिता की मृत्यु के बाद औरंगज़ेब उससे मिलने आगरा गया, उसे दिल्ली लाकर पूर्ण सम्मान और 'बादशाह बेगम' का पद प्रदान किया। उसे अपने निजी महल में, जो लाल किले से बाहर था, रहने की स्वतन्त्रता दी जो कभी रोशनआरा को भी नहीं मिला, यद्यपि रोशनआरा उसके पक्ष में थी, और उसकी सदा सहायिका रही। उसने रोशनआरा का केवल उपयोग किया। जहाँनारा का निधन होने पर सम्राट् औरंगजेब की आज्ञा से अपनी इस सम्माननीया बहिन के सम्मान में, तीन दिन तक देशव्यापी शोक मनाया गया और भविष्य में सब शासकीय सूचनाओं में उसके लिए 'साहिबात उज्जमानी' (mistress of the age) विशेष-

रों प्रयोग किए जाने का आदेश दिया गया ! जहाँनारा की प्रतिभा राजनीति और समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष नारी की सुयोग्यता के दावे का प्रमाण है, जिसे उसने दारा के विवाह के समय, जब उसकी आयु केवल लगभग उन्नीस वर्ष की ही थी, सिद्ध कर दिया था। दारा का विवाह मुमताज महल की मृत्यु के बाद प्रथम विराट् आयोजन था, जिसको सफल बनाने की जिम्मेदारी जहाँनारा के ऊपर थी !

यों तो जहाँनारा का सारा जीवन ही एक संदेश के रूप में उद्भासित होता है किन्तु उसका एक पक्ष आज भी विश्व के सामने उपस्थित भीषण चुनौती— साम्प्रदायिकता का समाधान प्रतीत होता है। वह है विविध धर्मों के बाह्य विरोधाभासों की तह में उनकी एक आधार-शिला का दर्शन। आल्डुअस हक्सले की मान्यता है "संगठित धर्म से जहाँ एक ओर प्रचुर लाभ हुआ है तो दूसरी ओर महत् हानि भी हुई है। ...... जहाँ नव जागरण हेतु पुनर्विचार के लिए प्रार्थनाएँ सबसे ऊँचे स्वर से उन लोगों के द्वारा की जाती हैं जिनका पूर्ण हार्दिक अनुबन्ध अपने स्वीकृत धर्म ईसाइयत, जूडाइज्म या इसलाम के साथ न होकर 'राष्ट्रीयता' के प्रति होता है; और जिनका उद्देश्य स्थानीय आस्था को 'शक्ति की राजनीति' की शस्त्रशाला के हथियार के रूप में उपयोग करना होता है। ऐसे संसार में संगठित धर्म का विनाशात्मक पक्ष उभर कर प्रमुख होना निश्चित ही है।"[1]

युग बीत गए हैं, शतियाँ गुजर गईं। काल सर्प रेंगता हुआ धरती, जीवन इतिहास और दर्शन में अपनी छाप निरन्तर छोड़ता गया है; किन्तु लगता है कि मानव अपने चिन्तन में आज भी उतना ही संकीर्ण, अनुदार और छोटे मन वाला है। भारत की वही सदियों पुरानी छुआछूत, हरिजन, हिन्दू-मुसलिम

---

1. "Organized religion has done much good; it has also done much harm . . . And the destructive side of organized religion is certain to be prominent in a world where the loudest appeals for a revival are made by men whose deepest loyalty is not to their professed Christianity or Judaism or Islam, but to nationalism, and whose aim is to use the local faith as a weapon in the armoury of power politics."

—Alduous Huxley

[Adonis And The Alphabet, p. 36]

समस्या अपने और नये पक्षों, जातिवाद और प्रान्तवाद से पुष्ट होकर खड़ी है। अफ्रीका, पुर्तगाल, अमरीका तथा अन्य अनेक देश भी काले-गोरे, वर्ण-भेद, वर्ग-भेद की भावना से उत्पीड़ित हैं। देश-विदेश, स्थल-जल, धरती, आकाश, ग्रह-उपग्रह पर विजय पाने वाला मानव अपने मन की रुचि-अरुचि पर विजय पाने में पूर्णतया असफल सिद्ध हुआ है। कदाचित् इसका सबसे बड़ा कारण है—आत्मज्ञान का न होना, और पदार्थज्ञान एवं आत्मज्ञान में संतुलन का अभाव ! भौतिक विकास के साथ यदि मानव अपने को…अपने 'मैं' के स्वरूप को समझ सके तो दर्प के लिए कहीं अवकाश नहीं रह जाता। 'मैं' का शून्य स्वरूप जिसका बुद्ध ने संकेत किया था, विश्व के बड़े-बड़े मनीषियों ने स्वीकार किया है। सब उपाधि, अतीत आदि से विहीन 'मैं' केवल वर्तमान क्षण में अर्थवान है। व्यक्ति जो कुछ 'है' वह अपने तात्कालिक क्षण में है। वह स्वयं उस क्षण में अपना सुख-दुख, प्रेम-घृणा, क्रोध-ईर्ष्या आदि है क्योंकि अनुभवकर्ता अपने अनुभव से पृथक नहीं है। 'मैं' के क्षण-क्षण परिवर्तित सतत गतिशील शून्य रूप का, मानस की सतत क्रियाशीलता का, सजग परिचय जीवन के धरातल में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर देता है। जहाँनारा की नम्रता और साधुता में इस तत्व के दर्शन होते हैं।

यह विचार-धारा बुद्ध से लेकर चीन के 'ताओ' और जापान के 'ध्यान' (zen) दर्शन से लेकर जे. कृष्णमूर्ति के चिन्तन में उस पूर्णता पर पहुँची दिखाई देती है जहाँ वह तथाकथित धर्म के क्षेत्र से निकल कर मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करती है। कृष्णमूर्ति ने इसी आत्मबोधजन्य वैयक्तिक क्रान्ति का संकेत किया है और उसे ही एकमात्र मुक्ति (The First And the last Freedom) माना है। सामाजिक क्रान्ति को वह इस नैसर्गिक क्रान्ति का परिणाम मानते हैं। . . . . . . गहरा प्रभाव दृष्टिगत होता है।

आल्डुअस हक्सले के एक उपन्यास 'द जीनियस एण्ड दी गॉडेस' (The Genius and the Goddess—पृष्ठ ९-१०) में दो मित्र-पात्रों की चर्चा का प्रासंगिक सम्पादित अंश यहाँ असंगत न होगा—

"A little orgy of reminiscence to celebrate one of your rare visits."

"Anyone would think, you were talking about a dangerous drug."

"But it *is* a dangerous drug," he answered "One escapes into reminiscence as one escape into gin or sodium amytal."

"You forget," I said "I'm a writer, and the Muses are the daughters of memory."

"And God," he added quickly, "is not their brother. God is'nt the son of memory. He is the son of Immediate Experience. You can't worship a spirit in spirit, unless you do it now Wallowing in past may be good literature, as wisdom it's hopeless. Time regained is Paradise Lost, Time lost is Paradise Regained. Let the dead bury their dead. If you want to live at every moment as it presents itself, you have got to die to every other moment."

"And what about my writing, what about those daughters of memory?"

"There would have been a way to make the best of the two worlds."

"A compromise?"

"A synthesis, a third position subtending the other two. Actually of course you can never make the best of one world, unless in the process you have learned to make the best of the other."

अर्थात् "तुम्हारे इस विरल आगमन के स्वागत की रात्रि में अतीत स्मृतियों का छोटा सा आमोदपूर्ण उत्सव मना लिया जाय।"

"कोई सोचेगा कि तुम शायद किसी खतरनाक मद-पान की चर्चा कर रहे हो!"

"किंतु यह सच ही एक खतरनाक नशा ही है," उसने उत्तर दिया, "स्मृति में व्यक्ति उसी प्रकार यथार्थ से पलायन करता है जैसे 'जिन' या 'सोडियम एमाटल' मे।"

"तुम भूलते हो," मैंने कहा, "मैं एक लेखक हूँ, और कला की देवियाँ स्मृतियों की पुत्रियाँ होती हैं।"

"और ईश्वर", उसने जल्दी से जोड़ा "उसका भाई नहीं है। ईश्वर स्मृति का पुत्र नहीं हैं। वह तात्कालिक अनुभव का पुत्र है। तुम किसी आत्मा की पूजा पूर्णता से वर्तमान क्षण के अतिरिक्त नही कर सकते। अतीत में रमण— अच्छा साहित्य हो सकता है, किंतु बुद्धिमानी की दृष्टि से वह व्यर्थ है। समय की पुनःप्राप्ति स्वर्ग की हानि है, और समय की हानि स्वर्ग की पुनः-

प्राप्ति है। बीते को गाड़ते चलो। यदि तुम आने वाले प्रत्येक क्षण को जीना चाहते हो तो तुम्हें हर बीते हुए क्षण के लिए मृत हो जाना चाहिये।"

"फिर मेरे लेखन का...स्मृति की उन पुत्रियों का क्या होगा?"

"दोनों सृष्टियों का सर्वोत्तम प्राप्त करने की कोई राह होनी चाहिए"

"समझौता?"

"संयोजन, दोनों स्थितियों का नियमन कर उनके संयोग से एक तीसरी स्थिति का निर्माण। वस्तुतः एक सृष्टि को ही लेकर चलने से श्रेष्ठतम उपलब्धि तब तक नहीं होती जब तक उस प्रक्रिया में दूसरी सृष्टि का भी श्रेष्ठतम उपयोग न सीख लिया हो।"

४ अगस्त' ७३ शकुन्तला भार्गव 'अर्चना'

'कमला नेहरू हॉल, जोधपुर'

संकेतिका

रूपान्तर

(आग और आँसू दो बाजू, जलते गलते जीवन के)

सामूगढ़[11]की घोर पराजय
का यह अगला रहा प्रभात।
कोपल[12]ने प्रकोष्ठ में पाया
सोया मुझे अनावृत गात।

नहीं जगाया, आच्छादन भर
डाल दिया मेरे ऊपर।
जगने पर यों लगा—हुआ
अन्दर बाहर सब रूपान्तर।

संज्ञा में तिरने वाली थी
प्रथम बात गत रात सुनी—
छत्रसाल[13]मृत, और गए हैं
छोड़ आगरा दारा भी!

मृगमरीचिका संयुत जीवन
की भटकन ही भाग्य रहा।
एक स्वप्न उत्तर रजनी में
देखा, अब तक जाग रहा!

श्वेत वस्त्र मस्तक पर बाँधे,
मुख पीताभ, नयन ज्योतित,
प्रिय अलिन्द में खड़े कह रहे—
"यहीं रहा"—मैं आश्वासित!

"कहीं नहीं मैं गया, सुखी हो !"
उठ मैं उनकी ओर बढ़ी।
क्रमशः धूमिल मूर्ति क्षितिज में,
इतने ही में जाग पड़ी ।

डूब रहा जो, तिनके का भी
उसे सहारा हो जाता !
सपना यद्यपि मिथ्या ही है
फिर भी मन को भरमाता !

स्पन्दन - हीन प्राण कुछ ऐसे
कोई गति का चिह्न नहीं।
दवा-दवा-सा दर्द टीसता,
पीड़ा मुझ से भिन्न नहीं !

कभी चुभन तीखी हो आती
विष-लहरी-सी होती व्याप्त।
प्राण छटपटाते रह जाते
जीवन एक असह अभिशाप !

आग और आंसू दो बाजू
जलते-गलते जीवन के;
जिनमें क्रमशः करवट लेते
बीत रहे क्षण जीवन के।

उफन-उफन कर दिल का बहना
अन्तर्ज्वाल असह तीखी
कब जाने कल निद्रा आई
माँ की ममतापूर्ण सखी !

सोच-सोच मन होता विह्वल
कैसी विषम परिस्थिति थी !

दुर्भागी भाई दारा की
ग्राह, पिता की क्या स्थिति थी !

रही विश्व में महा ग्रभागिन
ग्रपने में यद्यपि निरुपम,
राजकुमारी, जिसे मिले ये
सोने के तन, ग्रशन, वसन !

मिट्टी की तृष्णा में जिसका
जीवन जल-जल जीर्ण हुग्रा !
हरित दूर्वा का ग्राकर्षण
जिसे खींचता नित्य रहा !

किन्तु न उस तक पहुँच सकी
ऊँचे महलों में पली, बढ़ी !
जन-साधारण-जीवन--स्पर्द्धा
मृगजल-सी ही जान पड़ी !

जीवन-तृष्णा ने ग्रन्तर को
जब-जब टेरा, करी पुकार !
विकल, छटपटाई बन्दी-सी
विकट जड़े थे सारे द्वार !

दीवारों-द्वारों से टकरा
घायल इच्छाएँ रोईं ।
उस वैभव की चमक-दमक में
पीड़ा की ग्राहें खोईं !

मन होता चीत्कार करूँ मैं
चौंक उठें यह सभी दिशा !
लोट-लोट भूतल पर क्रन्दन
से हलकी हो घनी व्यथा !

किसे कल्पना—साम्राज्य का
यह वैभव पाषाण-शिला;
जिसके नीचे मुग़ल कुमारी
का यौवन, जीवन कुचला !

उस सीमा पर आज खड़ी हूँ
जहाँ न कोई भी अपना !
दुख भी कह मन हलका करलूँ
सुख तो बस केवल सपना !

इसीलिए लिख अपनी गाथा
कहूँ और फिर स्वयं सुनूँ !
पाठक कभी कथाकर बनकर,
अपना भावी-भूत गुनूँ !

स्मृतियाँ हों अब जीवन का सुख
और वही पीड़ा का साज !
कड़ी-कड़ी को जोड़, सजाऊँ
जीवन झाँकी उनसे आज !

ओ स्मृतियों, साकार बनो,
धर रूप मुझे तुम बहलाओ !
निस्संबल औ' निराधार
जीवन को आश्रय दे जाओ !

तुम ही जीवन का पाथेय
तुम्ही हो इस-जीवन का-प्रेय;

तुम पर ही जीवन न्योछावर,
अब न शेष है इसमें श्रेय।

दारा की यह घोर पराजय
मुग़ल - वंश का जो युवराज;
प्राणों को ले दर-दर भटके,
यह उसके जीवन का साज !

महाराज्य - सम्राट् पिता की
करुण दशा से मन विचलित
ढहते गौरव - शिखर देखकर
आतंकित मानस कम्पित !

साम्राज्य - लिप्सा - वेदी पर
प्रियतम का पावन उत्सर्ग !
देखा इन आँखों नें जीवन-
नाटक का दुखान्त यह सर्ग !

सुख-वैभव का चरमोत्सव, फिर
दुःखों का असह्य अवसाद
चक्रनेमि - सा ऊपर - नीचे
जीवन का आह्लाद - विषाद।

जीवन की मधुमय अभिलाषा
अब है प्राणों से निःशेष।
सब कुछ देख चुकी इस जग में,
प्राप्य नहीं कुछ रहा विशेष !

जीवन - मरु - एकाकी - शाद्वल
भी आँधी में नष्ट हुआ !
प्राणों का आश्रय तरुवर खो
मन - विहंग संत्रस्त हुआ !

रण-प्रयाण से पूर्व विदा ली —
"मिल न सके यदि इस भू पर,
अमर-लोक में मिलन प्रतीक्षा
सदा करूँगा"— यह कह कर !

कुरंम देवी[१४] की वह घटना,
संयुक्ता की मूर्ति मुझे
याद आ रही पुनः, मिट रहे
मन के जीवन - चित्र सजे !

मानस जीवन चित्र सँजोए
आकुल कोमल भाव लिए
नियति - करों ने कूँची फेरी
सबके काले रंग किए !

सारा साहस छूट गया है
मेरु - दण्ड ही टूटा है ।
अब न विधात्री अपनी होगी
भाग्य हमारा रूठा है !

ओ अनन्त की शक्ति ! तुम्हारे
हाथ समर्पित यह जीवन !
अब न कामना शेष, करूँ मैं
भग्न मनोरथ संचालन !

अब तक जीवन के सूत्रों की
अपने को समझा धारिणि,
आज स्पष्ट है—रही भूल ही
मैं थी केवल अनुगामिनि !

जीवन रथ के वल्गाधारी,
तुम अलक्ष्य में खेल रहे !
हम भूले कर्तृत्व गर्व में
तुम हँस सबको ठेल रहे !

बृहद् योजना बना-बना कर
कितनी बार उन्हें परखा !
रहा हमारे मन कुछ करना,
किंतु तुम्हें कुछ और रुचा !

सत्यासत्य शुभाशुभ की सब
आज कसौटी टूट गई !
विजय धर्म कीहीहो, यह भी
चाह, आस्था छूट गई !

सत्य, धर्म की हुई पराजय
आडम्बर की-पूर्ण विजय !

आज वीरता भूपर लोटी
मानवता का देखा क्षय !

कूटनीति की फिरी दुहाई
रही सरलता सिर धुनती ;
नियति कौन से ताने-बाने
ले युग का यह पट बुनती !

ओ महान, मैं अल्पज्ञान हूँ
तेरे सब रहस्य अज्ञेय !
परिमित सीमाएँ, अक्षम मैं
तू दुर्गम है, अरे अजेय !

होनी-अनहोनी चित्रों की
रूपरेख तू रचे रहा !
हमसे रंगों को भरवाया
हमने 'अपना' चित्र कहा !

अब न दम्भ यह उठा सकूँगी,
अपना भार हुआ दुस्सह !
अपनी बाँहों में समेट, ओ,
जगतजनक,कर पीड़ा क्षय!

कठपुतलों से नाच गिर रहे
अपना-अपना खेल दिखा !
नटवर यह समेट ले माया
और नभीपण खेल दिखा !

आज स्पष्ट अनुभव होता यह
मुगल वंश का भारत में,
हुआ अवतरण भीषण नाटक
रचना, घटना पात्रों मे !

कितने महारथी सपने ले
आए, इससे चले गए !
मन की कुछ करने से पहले
नियति करों से मले गए !

दुनिया सच ही दर्शनीय भर
देख रहा सुख से रहता !
जो छोड़े इसको, रोता है;
भोगे, वह भी है रोता !

संन्यासी ने सत्य कहा था—
"मुगल वंश का होगा क्षय !"
श्वेत सर्प का दंश विकट यह,
दारा की अति करुण अजय !



मुगल - वंश

मुगल वंश

वंश हमारा कितनी संस्कृति-सम्मेलन का केन्द्र रहा !

मुगल वंश का रंग भरा—,
विस्मयकारीविचित्र इतिहास!
काल मंच पर खेल रहा विधि
नाटक नव होता आभास !

मातृ पक्ष में चंगेजी औ,
पितृ पक्ष में तैमूरी !
पूज्य पितामह बाबर ने ही
मुगल वंश की नींव धरी !

पंचम और चौदहवें क्रम से
पिता और माता के पक्ष !
उमर शेख मिर्ज़ा थे उनके
पितु, फ़रगाना-शासक दक्ष !

शेर बबर सा बल, दिल पाया;
भुजबल पर निर्भर मानी !
फिर भी सुन्दरता प्रेमी मन,
कोमल स्नेही, बलिदानी !

पुत्र हुमायूँ यद्यपि बल में
नही पिता के तुल्य रहे !
विद्याव्यसनी, सहृदय अति थे;
बहुत कष्ट पर कष्ट सहे !

पूज्य पितामह अकबर थे
कितने महान, अब है प्रत्यक्ष !
अक्षर ज्ञान रहित भी, दिग्गज
विद्वानों के थे समकक्ष !

उनने ही साम्राज्य जमाया,
मानवता के प्रति थी प्रीति !
आत्मरूप को पहचाना था
विश्वधर्म की पाली नीति !

उनकी चिन्तन - क्षमता अपने
युग से शतियों आगे थी।
महोदारता उर की सबको
स्नेह - सुधा में पागे थी !

चंगेज़ औ' तैमूर, महान
रहे बर्बरता मे अपनी ।
उनकी अश्व-टाप-स्मृति से ही
काँप रही अब तक अवनी !

उनके द्वारा घाव हुए जो
मानवता को हत करके
पूर्ति पितामह अकबर द्वारा
हुई उन्हें अक्षत करके !

आए थे चंगेज, गज़नवी
लूट - लूट भरने निज देश !
नही अजनबी उन जैसे हम
यही मातृ भू, नही विदेश !

नहीं विदेशी अब हम, भारत
माँ की ही संतान बने ।

इसके रूप धर्म की रक्षा
सर्वोपरि कर्तव्य गिने !

कितनी जाति धर्म संस्कृतियाँ
इसमें आकर एक हुई ,
सागर में नदियाँ मिलकर ज्यों
भारतीय निश्शेष रही !

जन्म मिला था हिन्दू गृह मे
अपनों ने रिपुता ठानी !
निज परता की मात्र निकष
केवल मानवता पहचानी !

हिन्दू, मुसलिम,मन्दिर,मसजिद
रक्षा शासक का कर्तव्य !
सम्प्रदाय वर्णों से ऊपर
मानवैक्य में निष्ठा भव्य !

मानवता के महाशिखर,
विभु सत्ता के सच्चे साधक !
ऐक्य भाव आधार मात्र इस
[illegible] महा सत्य के आराधक !

जहाँगीर कवि-हृदय शाह थे,
नही खबर, था राज्य कहाँ !
बस यथार्थ में शासन कर्त्री
थीं साम्राज्ञी नूरजहाँ !

हमें हुई यद्यपि दुखदात्री,
यह सच थीं महान फिर भी !
कवयित्री वह, कलावती थीं
नहीं छू गया था भय भी !

दौहित्री को बाँध पीठ से
किया महावत खाँ से रण !
महारथी, जिससे थर्राते
साम्राज्य के सब ही स्तम्भ !

वंश हमारा कितनी संस्कृति
सम्मेलन का केन्द्र रहा !
मुग़ल, तुर्क, रजपूत, पारसी
मिलित रक्त का अंश गहा !

सुता बिहारीमल की
जोधाबाई, अकबर की रानी;
मानसिंह की बहन मानबाई
थी पुत्र-वधू मानी !

जगतगोसाई, राजा जयसिंह
की पुत्री, खुर्रम माता !
मेरी माँ मुमताज महल
पारसी, मूर्त थीं सुन्दरता !

नूरजहाँ साम्राज्ञी के—
भ्राता आसफखाँ की पुत्री !
ताज हुआ निर्माण, पिता की
प्रणय-मूर्ति जग में निखरी !

इन अद्भुत सन्दर्भों से
जीवन अपरूप बना मेरा !
किसे प्यार दूँ किसे घृणा;
सब मत-मतान्तरों को हेरा !

इस मिश्रण की लाज नहीं,
गौरव सब ही थे महामहिम !
अधिक धनी अपने को पाती
सत्संस्कृतियों का ले ऋण !

शाहजहाँ सम्राट, पिता
स्थापत्य कला के परिपोषक !
माँ की स्मृतिनिर्मित ताजमहल
पत्थर में आया फूल निखर !

वह स्वर्ण-सिंहासन का मयूर
नाचे, फिर दुख में डूब जाय !
उस महावीर के अन्तिम दिन,
ज्यों तट पर नौका डूब जाय !

सब पर इंसान विजय पाले
अपनों से नित वह हारा है !
किसकिस को रोएँ पिता आज
बस कारा है ! क्या चारा है ?

वे पिता - पुत्र दर्शन-शासन,
सिद्धान्त-कर्म की युगल मूर्ति !

थे शाह शुजा अथवा मुराद,
दोनों ही भाई महावीर !
डूबे निज स्वार्थों के मद में
था विलासिता का गहन नीर !

है व्यष्टि-समष्टि-मिलन जग-श्रम
था धीरज नहीं समझने का ;
अग्नि - स्फुलिंग से जले-बुझे,
भोगा परिणाम उलझने का!

अपने समूह से पृथक् मृगी
वन में खो ही तो जाती है ;
जब एक रागिनी अलग बजे,
थक कर सो ही तो जाती है!

वेणी चढने के हित प्रसून को
उर छिदवाना होता है !
पाने समाज में उच्च मान
कुछ त्याग निभाना होता है !

ऐसे महान व्यक्तित्वों से
यह वंश सदा ही रहा पूर्ण !
जग की लय के संग मिल न सके
इस सृष्टि-चक्र का क्षिप्र घूर्ण!

चरमोत्थान से गहन पतन
का साक्षी रूप बने यह जन ;
था लिखा दैव ने वज्र लेख
रूपान्तर जिसका आत्म-कथन !

कितना सुख ! वैभव ! नहीं ओर
प्राणी से भोगा भी न जाय !
दुख और पराभव का न छोर
सह भी न सके, दिल बैठ जाय !

चरमान्वितियाँ, गहरे गह्वर
जीवन का ताना-बाना है !
जग में जितने दिन जीना है ;
मन को समझा बहलाना है !

७ ७

दृष्टिपात

मध्याह्न काल का सूर्य तपे,
ऐसी स्थिति थी जब शासन की;
नीचे ढलाव ही पड़े देख,
उत्पत्ति हुई तब इस जन की!

मेवाड़-ग्राम वह था दोहनी
पाया था मैंने जहाँ जन्म।
युवराज पिता थे युद्ध व्यस्त,
चल-युद्ध-शिविर का था जीवन!

मेरा सा जिसका भाग्य बदा
यह स्थल अवसर उपयुक्त रहा!
मानो विधना ने जन्म-काल
से लक्ष्यपूर्ति हित मुझे चुना!

था नाम 'जहाँनारा' रक्खा
'जग का आभूषण' समझ मुझे!
अविरत संघर्षों में रहते
थे नित्य जनक जननी जूझे!

लैला का स्वामी, शहरयार
भावी सम्राट् बनाने को,
कितने षड्यन्त्र चले निशदिन
खुर्रम अस्तित्व मिटाने को !

चौदहवें वर्ष की प्राप्ति तलक
भटके पूरव-दक्षिण-पश्चिम,
बनते शरणार्थी जगह-जगह
कितने ही झेले कष्ट कठिन !

दारा, औरंग दोनों बच्चे
साम्राज्ञी ने निज रखे निकट;
माँ के कष्टों का था न पार
कैसे दिन बीते महा विकट !

द्रोही ठहराए गए पिता
उनके हित दण्ड हुआ कारा !
अति वीर, नीति के ज्ञाता थे,
अतएव न उनका मन हारा !

छोटे बच्चे नासमझ रहे,
वे अधिक न अनुभव कर पाए!
सबसे मैं बड़ी रही, इससे
उत्तरदायित्व सभी आए !

पहली सन्तान लाड़ली थी;
था रहा पिता का प्यार बड़ा।
जीवित सन्तानों में केवल
अवशिष्ट सात, अधिकार बढ़ा

माँ और पिता के साथ-साथ
चिन्ता का भार वहन करती,

मैं बड़ी हुई, गम्भीर बनी,
सब के सुख का प्रयत्न करती!

शिशु भाई - बहिन अनेक बार
मेरे ही मुख को थे तकते!
विश्वास रहा सबका मुझ में,
आपस में यद्यपि थे लड़ते!

बचपन के इस बीते युग पर
मैं करती हूँ जब दृष्टिपात!
अवशिष्ट सदा रहती दर्शक,
भाई-बहनों का खेल-घात!

भूले यद्यपि सब वैभव में
सम्राट पिता के बनने पर;
पर मेरा जो व्यक्तित्व ढला,
अब सहज नहीं उसमें अन्तर!

प्रति दिन की रही समस्या जो,
उनकी सुलझन का कार्यभार;
मैं अनायास आगे होती,
कुछ भी करना हो नया कार्य!

चौदह की रही किशोरी में
जब लिया पिता ने राजदण्ड;
पर लगता, छोटी कभी न थी,
खेली न कभी बालिका-वृन्द!

माँ का वह रूप न भूलूँगी,
जब बिछुड़े बच्चों को पाकर,
कितना रोई थी फूट - फूट
अपनी छाती से चिपटा कर!

बुर्हांपुर में मोहरम आई
की कत्लरात्री वैसी काली!
वह वुध की रात न भूलेगी
जीवन-लीला हरने वाली!

माँ का दिल डूब रहा अनुक्षण
मुझसे कह, पिता बुलाए थे!
वह पार्श्व-कक्ष में रहे विकल
जल्दी-जल्दी चल आए थे!

खोले माँ ने पथराए-से
दृग, उनको हम सब को सौंपा!
ली अन्तिम विदा, और सत्वर
बुझ गया दीप उस जीवन का!

था वज्रपात ऐसा अनभ्र,
कुछ काल न स्थिति का वोध हु
माँ को न देख धीरे-धीरे
उस अनस्तित्व का वोध हुआ!

जीवन-कांक्षा तृण-सी तोड़े
निरपेक्ष पिताश्री थे विह्वल;
भाई-बहनों के संग उन्हें भी
मैं सम्हालती थी प्रतिपल!

केवल सत्रह की वय मेरी
महती विपत्ति आपन्न हुई!
परलोक गईं माँ छोड़ हमें,
मैं पद में स्थानापन्न हुई।

दम्पतिगण में होती ही है
यों तो आपस की निर्भरता ;
माँ और पिता में थी विशेष ,
झेली थी संग-संग विपदा !

माँ का सख्या उठ जाने से
अब पिता नितान्त अशक्त हुए,
सब आत्मशक्ति निःशेष हुई
भूले भटके से रिक्त हुए !

मैं ही कुछ उन्हें समझती ,
करती आवश्यक की तुरत पूर्ति ;
मुझ पर निर्भर हो जाने की
यों बान पड़ी औ' बढ़ी प्रीति!

माँ के बदले अब मेरा ही
घर में अनुशासन चला सकल,
मैं रही बड़ी शहज़ादी, यों
'बेगम-साहिब' पद मिला सबल !

घर और राज्य के शासन में
क्रमशः यों थी अनिवार्य प्राय
निर्णय न पिताश्री लेते थे ,
बिन पूछे मेरी तुच्छ राय !

इस राज्य मुग़लिया के पिछले
सत्ताइस वर्षों का शासन ;
कुछ अपरिहार्य ही सी मेरी
आवाज़ बन गई थी क़ानून !

सबसे पहला जो महद् कार्य
नन्हे जीवन में हुआ साध्य !
अवसाद हटा, उल्लास भरा,
भाई दारा का शुभ विवाह !

पहला-पहला यह उत्सव था
दारा पुत्रों में बड़े रहे !
शानो-शौकत की चमक-दमक,
औ धूमधाम सब बढ़े रहे !

सब पूर्ण सफलता से सम्पन्न
हुआ – इससे विश्वास जगा !
अभ्यस्त दृष्टि तत्क्षण पाती,
यदि छिद्र कहीं रह जाय ढका!

राजे - अमीर - उमराव सभी
सद्भाव-प्राप्ति के इच्छुक थे!
सम्राट् - कृपा - साधन माने
मुझको, वे सभी शुभेच्छुक थे!

जो रहे विरोधी तत्त्व बिखर
उनको करती थी एक सदा।
सबके मन शान्ति विराजे, सब
हों सुखी यही सर्वदा दुआ !

पूरी आवश्यकता हों सबकी,
विधवा अनाथ का कष्ट दूर !
परिवारी भी हों सभी सुखी,
बाधा, पीड़ा हो जाएँ चूर !

परदेसी थके हुए आवें
उनको सराय का आश्रय हो!
सब का पथ-हो कल्याणपूर्ण,
विपदा न किसी को दुखमय हो!

घर में कोई रोगी होता
उसकी पीड़ा शमनार्थ सदा,
गज, वाजि, रत्न, धन, वस्त्रदान
औ' नित्य सदाव्रत था बँटता।

जीवन के इन गत चवालीस
वर्षों का यह ही जीवन-क्रम
अब तक न उपस्थित था कोई
इस स्थिति में परिवर्तन, व्यतिक्रम!



स्मृतियाँ

लाँघ रही हूँ उन गलियों को जिनसे बचपन गया गुजर

चवालीस गत वर्षों पर मैं
दृष्टि डालती हूँ फिर से
जाने कितनी मधु-कटु स्मृतियाँ
उठतीं अतीत-अन्तर से !

सुस्मृति जीवन दुस्मृति जीवन
जीवन स्मृतियों का आगार ,
कभी भुलातीं कभी जलातीं ,
भूल रहा उनमें ज्यों हार !

मानस-नेत्र-चित्रपट अंकित
जीवन - चित्र उभरते हैं ।
कभी हास में कभी रुदन में
कम्पित अधर फड़कते हैं !

इस मानस के रंगमंच पर
ले अतीत से विविध कथा ,
कैसे प्रतिपल अभिनय होता,
मैं उनकी अपलक द्रष्टा !

सुख-दुख युग्म यहाँ दोनों हैं
सत्य रहें या वे हों भ्रान्ति;
उनका संगम ही यह जीवन
शेष कल्पना की है भ्रान्ति !

यह अतीत चिन्तन-धारा ही
मेरा वर्तमान, भावी !
उसमें ही अवगाहन प्रतिक्षण
जीवन-विधि मन पर हावी!

काल-पटल उठते जाते हैं,
नए चित्र की कर रचना
स्वप्न-सत्य की मीमांसा अब
मेरे निकट मात्र छलना !

बेहोशी के इस खुमार में
मैं फिर से बाला बनकर
लांघ रही हूँ उन गलियों को
जिनसे बचपन गया गुज़र !

आता बचपन फिर से लेकर
अपना भूला भोलापन !
अन्तर में अन्तर न रहा,
अपने में डूबे रहे मगन !

चिन्तन का झोंका यह मुझको
सहसा कहाँ खींच लाया ?
महल सीकरी[१०] के प्रांगण में
शैशव का मधुरिम साया !

इस प्रांगण में नन्हे बालक
हम सब मिल कर खेले हैं;
आज बड़े हो स्वार्थसिद्धि में
सब ही रहे-अकेले हैं !

भाई दारा निज पगड़ी में
मोर पंख का खोंस मुकुट
कितने हर्षित हो करते थे
विविध भाँति क्रीड़ा कौतुक !

औरंगजेब बैठ कोने में,
कितने खेल खेलते थे।
स्वयं बोलते थे कुछ-कुछ, फिर
स्वयं स्वयं को सुनते थे।

लिख-लिख पत्र भिड़ाना सबको
क्रीड़ा उनको सदा रुची।
राजनीति का शक्तिपूर्ण अति
अब विस्फोटक अस्त्र वही !

छोटी-छोटी बहनें पहने
लाल गुलाबी रंग वसन
स्तम्भों के पीछे छिप-छिप कर
बन जाती थी नई दुल्हन !

तब हम सब ही भोले शिशु थे,
चिन्ता नहीं किसी की थी।
वर्तमान में ही जीते थे,
खुश यदि होती, जी, की थी !

सहसा झोंका एक पवन का
लो, कैसा निर्मम आया,
मोरपंख भाई के सिर से
झटका लगा उड़ा लाया !

औरंगजेब लिए कर माला
दृश्य देख यह विहँस रहे।

दारा स्तब्ध देख भाई को,
रहे देखते अवश हुए !

कितने बदल गए हम सब
परिवर्तन की शृंखला रही !
प्रत्यावर्तन करती स्मृति में
फिर-फिर आती फतहपुरी !

सबसे मन समीप दारा थे
समवय कुछ-कुछ वही रहे !
चिन्तन, मधुर प्रसंग अनेकों
उनकी स्मृति से रहे जुडे !

हम दोनों ही संग खेले हैं,
संग पढ़े हैं मनन किया।
नई कल्पनाएँ भावी की
नई सृष्टि का स्वप्न रचा !

छोटे-छोटे कितने अनुभव
प्रति दिन हमको गढ़ते हैं।
उनसे हो प्रेरित प्रतिक्षण हम
जीवन पथ पर बढते हैं !

बचपन में माँ-पिता साथ हम
कितना भटके, घूमे हैं।

विविध देश की और जाति की
कटु-मधु स्मृतियां उर में है।

निज यौवन में पिता, योग्य
सैनिक थे औ' सेनापति थे।
जन्म हुआ मेरा तब भी
मेवाड़ राज्य से रण-रत थे।

अमरसिंह, राणा प्रताप-सुत
मुग़ल राज्य से थे विपरीत।
बड़ी अनेक सैन्य बाबा ने
भेजीं, किन्तु न पाईं जीत !

मिली पराजय सदा, अन्त में
भेजे शाहज़ादा खुर्रम,
सफल प्रयास हुए, राणा ने
कर ही दिया आत्म-अर्पण!

दक्षिण में चलता ही रहता
था अविरत संगर का घोष
अहमदनगर राज्य का मंत्री
मलिकअम्बर था सचमुच योग्य !

अबीसीनियन जन्मजात था
अन्तिम क्षण तक सजग रहा।
उसके जीवन में न मिली जय,
शासन उसका सुदृढ़ रहा।

नूरजहाँ के षड्यन्त्रों का
बोध पिता को हुआ जभी,
विद्रोही हो गए, महावत
खाँ से संगर हुआ तभी !

विलोचपुर में पिता हराए,
अविरत पीछे लगा रहा।
वंग देश से फिर दक्षिण को,
मलिकऽम्बर भी भगा रहा।

और अन्ततः राह न पाकर
आत्म-समर्पण स्वयं किया
दो पुत्रों को शाह निकट
आश्वासनार्थ ज़ामिन रक्खा !

देख महावत की ताक़त को
नूरजहाँ ने किया विरोध।
हुआ दकन से 'खुर्रम' और
महावत का मिलकर विद्रोह !

साम्राज्ञी का इस अवसर पर
राजनीति-पटु, पतिप्राणा,
वीर, धीर गरिमामयि नारी-
रूप सभी ने पहचाना !

ऐसे में सम्राट् दिवंगत
पिता शासनारूढ़ हुए
हम किशोर वय, इस अवसर में
अगणित अनुभव गूढ़ हुए।

समवय प्राय रहे दारा
हम दोनों साथ-साथ रहते !

पढ़ते-लिखते, और देखते
उसकी मीमांसा करते !

शिक्षा का क्रम अल्प, किन्तु
व्यावहारिकता में पूर्ण मिली
सच्ची जीवन-शिक्षा वह थी
शेष ग्रन्थ - सिद्धान्तमयी !

शिया-राज्य-इतिहास दकन का
राजस्थानी वीर - कथा।
रहन-सहन रुचि और रीति का
परिचय प्रकट कहाँ मिलता !

दक्षिण मुस्लिम-राज्य, मराठे,
पश्चिम राजपूत रणधीर !
जगह-जगह भाषा विभिन्न थीं
भूषा-संस्कृति-रीति विचित्र !

इन वर्षों में हमने देखे
विविध लोग औ' उनके धर्म
जरूरतें सबकी समान थीं
थे समान ही उनके कर्म !

जाति-धर्म-कुल के बाने के
नीचे छिपा सत्य जाना
विविध रूप में, मानवता के
एक रूप को पहचाना !

किन्तु धर्म-चर्चा आने पर
सब भीतर कस जाते थे !
असुरक्षा, संशय, भय, भेद-
भाव से क्यों भर जाते थे ?

धर्मों की यदि आड़ न होती
सम्भव नर मानव होता !
हिन्दू मुसलिम और पारसी
ईसाईपन को खोता !

बच्चों में यह भेद न था
उनमें संस्कृति बिम्बित देखी
ज्ञान मिला यह अनायास ही
था प्रभाव पर अल्प नहीं !

हिन्दू-मुसलिम का शैशव में
नहीं भेद का भान हुआ !
खेल-कूद में नृत्य-गीत में
मात्र ऐक्य ही मान रहा !

लोक-कथा, गाथाओं का था
खुला खजाना उनके पास
कहते-सुनते रस पाते थे ;
सहज पवन के से उच्छ्वास !

आज पद्मिनी का आदर्श
न मेरे मन से हट पाता ।
कर्मवती का और हुमायूँ
का नाता अतिशय भाता !

हिन्दू राजे छोड़ भला क्यों
उसने भाई मुगल चुना ।
भाई ने भी स्वयं विपद् में
पड़ राखी का मूल्य गुना !

पावन मानव-गाथा भाव-
भरी न कभी मन से हटती ।

कितनी ऐसी अमिट छाप हैं,
जो न कभी उर से मिटती।

इनसे ही जीवन सुन्दर है
धर्म-विरोध लगा अति व्यर्थ !
लगा—धर्म की विडम्बना से
जीवन जन का हुआ कदर्थ !

धर्म नही, उसकी चल छाया
जन-जन पकड़ रहे अनजान
स्थूल आवरण के धोखे में
अर्न्तहित है सच्चा ज्ञान !

कुछ जब बड़े हुए, सूफ़ी
सन्तों का परिचय सुखकारी
उनके दर्शन और विचारों
का मन्थन था हितकारी !

पढने लिखने में कुशाग्र मति
उदारता धार्मिक रुचि में
अकबर दादा से विचार थे
दारा में पाण्डित्य गहन !

इसलामी शिक्षा सरमद से
पाई, एक फ़कीर रहा।
हिन्दू योगी लालदास से
वेद ज्ञान का लाभ लिया।

उपनिषदों के साथ बाइबल
मत-मतान्तरों में अनुरक्ति।
'मजमूआ-ए-बहरियान' मे
इसी सत्य की है अभिव्यक्ति।

संस्कृत से अनुवाद किए थे
भगवद्गीता, योगवसिष्ठ।
अपने सद्गुरु मियाँ मीर का
सकीनत-उल-औलिया चरित्र।

'सफ़ीनत-उल-औलिया' ग्रन्थ में
सन्त जीवनी लिखी उदात्त ;
'सिर्र-उल-असरार'—फ़ारसी
में उपनिषदों का अनुवाद!

अन्य प्रमुख विद्वानों से भी
जैसे मुंशी बांवलिदास,
प्रेरित कर, प्रणीत करवाए
उत्तम ग्रन्थों के अनुवाद।

था 'प्रबोध-चन्द्रोदय' उनमें
नाम रखा 'गुलज़ार-इ-हाल',
इब्न हरकरण ने रामायण,
रुचि दारा की रही विशाल।

मैं भी लिखती ही रहती थी
सन्त जीवनी या कविता
ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की
'मुनिस-उल-अरवा' लिखी कथा।

दादा का भी दीनइलाही
मानवैक्य का स्वप्न रहा।
वेद-ग्रन्थ दारा ने अर्पित
दादा को निज लिखा, किया।

इसका पठन किया मैंने
अपनी चिर ज्ञान-पिपासा में,
दीन-इलाही के पोषक का
कार्य - ज्ञानजिज्ञासा में!

औरंगजेब सदा करते थे
दारा का भीषण परिहास!
हिंसक पशु सी तीव्र घृणा
उनके उर में करती थी वास!

काफिर दारा का अस्तित्व
मिटाने का दुर्दम आयास
काश मुझको इसकी अनुभूति
तनिक, या होता पूर्वाभास!

काल - प्रवाह

काल - प्रवाह

(नव इतिहास बनाते मिलकर, किन्तु छिटक कर बिखर गए)

मुझ पर स्नेह पिता का अतिशय
थे सहभागी दारा भी।
दिया 'बादशाह-बेगम का पद
साथ रही फिर कारा भी।

पानदान का खर्चा भर थी
सूरत की प्रसिद्ध कोठी।
शक्ति और सम्पत्ति राज्य की
मेरे चरणों पर लोटी ।

अन्तःपुर औ' राजनीति में
मेरी सम्मति चलती थी
कर्ता - धर्ता मैं रहती थी
उन्हें न शंका कुलती थी।

औरंग का कितना प्रयास
मैं उसका पक्ष धरूँ — चाहा।
किन्तु न हममें मिलन-बिन्दु था
एक दूसरे को थाहा !

दारा और जहाँनारा
रोशन-औरंग की थी जोड़ी।
बचपन के इस बटवारे ने
हम सब की किसमत मोड़ी।

किन्तु एक आश्चर्य बड़ा यह
मैं ही उसे समझती थी।
उसको इसका पूर्ण बोध था,
हम दोनों में तनती थी।

रोशन उसकी कठपुतली थी,
उसकी इच्छा का साधन!
अपनी इष्ट-पूर्ति के हित ही
रखता था वह उसका मन!

कितनी बार प्रसंग अप्रिय जब
उठे पिता के उसके बीच,
बीच-बचाव कराकर मैंने
सदा दबाई घर की कीच।

क्षमादान उसको करवाया
भाई ही अन्ततः रहा।
किन्तु, कदाचित् पिता ठीक थे,
श्वेत सर्प ने विकट डसा!

उसको ही क्यों दोष धरें
सब ही कुछ-कुछ अपराधी थे।
जो भी रूप ढला उसका
निर्माण-कार्य में साथी थे।

रहे उपेक्षित शिशुओं में जो,
वह मन में कटता ही है।
पिता स्वयं द्विविधा बरते
तो बालक-मन फटता ही है!

एक साधु से कभी पिता की
प्रश्नोत्तरी हुई होगी!

औरंग था बालक ही, उसकी
 दस की आयु रही होगी !

"मेरे पुत्रों में क्या कोई
 कभी विरुद्ध खड़ा होगा ?"
"हाँ, सबसे गोरा जो उनमें
 छाती का फोड़ा होगा !"

तब उसके जीवन में कोई
 द्रोह आदि के चिह्न न थे।
सभी एक माँ के जाए थे,
 कुछ भी यद्यपि भिन्न न थे !

किन्तु पिता के चिंतन में
 तब ही से भेद उपज आया
'श्वेत-सर्प' की चर्चा से कुछ
 विषमय भाव उभर आया !

खाई बढ़ती गई, पिता ने
 उसको सदा दूर रक्खा।
कुछ प्रवृत्ति कुछ कटु अनुभव
 मिल, हृदय हुआ उसका पक्का!

भय का नाम न ज्ञात उसे था
 श्रमप्रिय, निर्भय रहा सदैव।
अस्त्र-शस्त्र-युत तत्पर रहता,
 अपने में यों था अद्वितीय !

अरबी और फ़ारसी, हिन्दी,
 तुर्की भाषा में अभ्यस्त।
कविता उसे शेखसादी की
 सबसे अधिक रही कण्ठस्थ !

थी कुरान उसको अतिशय प्रिय
ललित कलाओं से नफ़रत!
पाप – चित्रकारी की संज्ञा ,
और कुफ्र हौ था संगीत।

समर-शास्त्र से उसे प्रेम था,
बचपन से यह स्पष्ट रहा!
था चौदह का तभी एक दिन,
अनघट उसके साथ घटा!

गज-रण-क्रीड़ा शौक पिता का,
आयोजन - भू यमुना - तट!
सूरतसुन्दर और सुधाकर
गए भिड़ाए गज उन्मत्त!

लड़ते हुए थके गज थे जब
पहुँचा औरंग - अश्व वहीं ;
टूटा तभी सुधाकर उस पर
घबराया पर वीर नहीं!

वार किया उस पर नेजे से
घायल गज अब अधिक प्रचंड।
शुण्ड-घात से अश्व पतित था
हाहाकार मचा उस क्षण!

शुजा बढ़े, पर अश्व, सवार
सूँड से दोनों दिए पटक!
निश्चल वीर कूद घोड़े से
तब तक जाकर खड़ा अलग।

असि से गज को रोक रहा था,
नृप जयसिंह ने तब भरपूर

वार किया उस पर नेजे से,
आ पहुँचा सूरत - सुन्दर।

भालों और पटाखों की
चोटों, विस्फोटों से हो त्रस्त,
फिर सूरत-सुन्दर का धावा
भाग छूटा होकर भय-ग्रस्त!

साँस चैन की सबने ही ली
'पुत्र पिता-सा वीर' – कहा!
वन्य सिंह उनने यौवन में
मारा – सबने याद किया!

लगा हृदय से कहा—'बहादुर!'
डाँटा – 'क्यों खतरे से खेल!'
उत्तर दिया वीर बालक ने
"मरता—बात न थी अनमोल!

"लज्जा नहीं युद्ध में मरना,
शाहों को भी लेती मृत्यु;
सम्भावना अगौरव गौरव की फिर
कहाँ, वीरता का यदि कृत्य!"

यह ही तो साहस था जिसने
सिंहासन की बाजी दी!
साँकल से गज - पग बँधवा कर
डटा क्षेत्र में रिपु - वेधी!

'जीत मृत्यु या' ले संकल्प
हुए सब दाँव, दैव सीधे!

विजय, राज्य-श्री मिलीं साथ ही
हुए सभी तो मनचीते !

भेजा गया सदा मोर्चों पर
जहाँ कठिन जय पाना था।
छोटी सी ही आयु, और
अनुभव का बड़ा खजाना था !

दारा पले छत्र - छाया में
लाड़ - प्यार में हठी हुए।
रहा धैर्य-धन का अभाव,
वह विद्या-धन के धनी हुए !

कठिन परिस्थितियों में औरंग
बना जहाँ व्यवहार - कुशल।
दारा भाई में सब गुण थे
किन्तु क्षीण था विवेक बल।

रहे राज्य के महास्तम्भ जो
उन्हें छेड़कर रुष्ट किया।
महाराजा जयसिंह को गायक
कह कर व्यर्थ असंतुष्ट किया !

अहंकार के एक दोष से
कितने मित्र बने विपरीत।
इसीलिए तो शुभ दिन उनके
भाग्य साथ ही हुए अतीत।

जनसाधारण उनका बौद्धिक
धर्म - भाव न समझ पाते,

औरंग से सहमत होकर वे
उनको काफ़िर ठहराते ।

धर्म आड़ में महदाकांक्षा
औरंग की—दारा विध्वंस ।
मानव - धर्म समर्थक दारा
उसके उर में करता दंश ।

दारा को इसलाम - विरोधी
काफ़िर प्रचलित करवाया,
और धर्म की धुरी लगाकर
स्वार्थ - चक्र को चलवाया ।

ज्वालामुखी जला उसके उर
सब परिवार विनष्ट हुआ !
जलता, और जलाता सबको
वह क्या मन में तुष्ट हुआ ?

भाई - बहिन, पिता, परिवार
मधुर सम्बन्ध समाप्त हुआ !
वह सम्राट् बना क्या, सबको
मूर्तिमान अभिशाप हुआ !

सच यह है—सुख देने, पाने
की समता उसमें न रही ।
सन्देहास्पद — सन्देही
शैशव से वृत्ति प्रधान हुई !

नहीं किसी का प्रत्यय उसको
नहीं स्वयं विश्वासाधार,
अपनी सन्तति से भी उसका
चल न सका वत्सल-व्यापार !

कूटनीति घर में घुस बैठी
    पिता - पुत्र भी शत्रु हुए
षड्यंत्रों की विभीषिका में
    शंकित, भीत, वित्रस्त रहे !

औरंग का उर रहा संकुचित
    धर्म बन गया पागलपन !
हिन्दू धर्म जाति, दर्शन प्रति
    तीखी घृणा सालती मन !

हिन्दू काफ़िर, मुसलमान भी
    उनके प्रेमी काफ़िर मात्र !
वृत्त घृणा का बढ़ता जाता
    हरदम चलती रहतीं घात !

जितनी घृणा हिन्दुओं से थी
    उतनी अरुचि शियाओं से।
नाम "राफिजी कुश"[१८] कटार का
    रखा, भरा इन भावों से।

बाहर वालों से बढ़ती यह
    घृणा-ज्वाल फिर अपनों पर,
लपटें उसकी लगीं जलाने
    धीरे - धीरे अपना घर !

दिए पिता ने ऊँचे पद,
    पर, सदा शिकायत यही रही—
'दुश्मन' के हाथों में हैं नृप
    मुझ पर प्रीति, प्रतीति नहीं।

दारा को 'दुश्मन' कहता था,
शुजा - मुराद न ईर्ष्या-पात्र !
'पिता प्रेम करते दारा से
अधिक'—दग्ध यों होता गात !

शुजा उदार, दूरदर्शी भी
और रहा तन से बलवान
शासक था बंगाल प्रान्त का
उसे खा गया मदिरापान !

कामिनि और कदम्ब-प्रेम ने
खींच लिया सब जीवन-रस !
असमय में ही वृद्ध-प्राय बन
शिथिल हुआ चेतन पर वश !

था मुराद सब से ही छोटा
नरसिंह, किन्तु विवेक नहीं !
अच्छा सैनिक, किन्तु न शासक
मदिरा की अति चाह घनी !

उत्तरदायी नहीं तनिक भी
भेजा गया बल्ख को जब,
मन न लगा तो आना चाहा,
ऐसा था आचरण अजब !

अड़ा बालहठ पर, न समझता
कोई बात, परिस्थिति, नीति

मंत्री सादुल्ला खाँ ने तब
पदच्युत किया, न थी कुछ युक्ति !

अपने इस अधैर्य, नासमझी
से न कही भी वह चमका !
उसके मन में फेर न था कुछ
कूटनीति में शून्य रहा !

शूर, शेर से पुत्र पिता के,
किन्तु हाथ से निकल गए।
नव इतिहास बनाते मिल कर
किंतु छिटक कर बिखर गए !

इसी द्वन्द्व में अपर शक्ति, जो
साम्राज्य की स्तम्भ रहीं !
कुछ स्वतंत्र हो बिखर गई,
कुछ टूट गईं, कुछ नष्ट हुईं !



मन का राजा

मन का राज

(स्नेहपूर्ण यदि नर्क, मनोहर; एकाकी को स्वर्ग न प्रेय)

स्मृतियों के ही सोपानों पर
आज जिन्दगी चढ़ती है।
वहीं चिन्तना कैद हुई,
फिर-फिर अतीत को गढ़ती है।

वे सारे स्थल, संग तुम्हारे
जहाँ रखे हैं कभी चरण
आज हुए हैं वे सब ही तो
मेरे लिए तीर्थ पावन।

चाह रहे थे — देखूँ विश्व
तुम्हारे नयनों से, तुम संग
आज कामना—दोहराऊँ सब
अनुभव हुए तुम्हारे संग !

कितनी पीर प्रखर स्मृतियों में
चीर रही अन्तर्तम को
पर विस्मृति से इन्हें बदल लूँ —
चाह हुई क्या क्षण भर को !

देख रही स्वर्णाभ गगन में
विचर रही अंगूरी बाग।
उठती, हो साकार, एक
संध्या मन को मधुरस में पाग !

शीतल मन्द समीर प्रवाहित,
मधुर गन्ध से भरी हुई।
रंग- रंग के फूल- खिले हैं,
सब से स्मृतियाँ जुड़ी हुई !

फिर-फिर आएगा वसन्त, फिर
खिल जाएगी कली - कली।
तुम न रहे मैं भी न रहूँ,
जीवन-गति किसके हित बदली !

लाल गुलाब देख, भाई का
विवाह याद आता मझको।
मधुर गन्ध का यह झोंका
पीड़ा से भर जाता मुझको !

पत्तों की पीताभ रश्मियों
ने पहनाया स्वर्ण - मुकुट,
मैंने भी मन के राजा को
पहनाया है स्मृति - किरीट !

स्मृति है यह नवीन उतनी ही
उतनी ही आलोक भरी;
जिस दिन देखा प्रथम उन्हें,
युग बीते, तब मैं तरुण रही !

कक्ष - झरोखे निकट खड़ी मैं
देख रही छवि एक अनूप
सधे डगों से सिंहासन प्रति
बढ़ती अभिवादन हित भूप !

शिथिल धमनियाँ होती जातीं
सारा तन-मन ही गतिहीन !
दमयन्ती ने नल को देखा,
मन का यह क्या रूप नवीन ?

वह रजपूती वेश शौर्य्यमय
दिव्य-छवि-छटा-सी छहरी।
तरुणाई के प्रथम वेग की
मन में उमड़ी शुचि लहरी !

क्षत्रिय - सुलभ ओज था दीपित,
मर्यादामय तन - गरिमा !
नयनों में स्वप्निल मधुरी-सी
कलाकार की सी प्रतिमा !

हृदय हुआ था स्वयं समर्पित
कभी न कोई यों आया।
प्रथम दरस में, उर-दर्पण में
पड़ी दिव्य, अनमिट छाया !

प्रथम प्रीति की पावन वेला
अब न अन्य को वर सकती
मानस - पूजा हुई समर्पित
प्रीति मुग्ध मर भी सकती !

दमयन्ती ने सुर - अवहेला
करके भी नल - राज वरे।
मैंने भी प्रिय वरण किया है
जीवन, हृदय - देव मेरे !

ग्रह परिक्रमा करते रवि की,
शलभ दीप पर मँडराता ।

मेरा मन भी बद्ध, वाध्य हो
प्रिय की प्रदक्षिणा करता !

मुगल वंश की राज-सुता मैं,
नहीं विवाह-चर्चा विधिवत।
क्रूर भाग्य की प्राचीरों में
क्यों वन्दी सौभाग्य-विहग ?

दादा के आदेश रूप—यह
रचा गया हा क्रूर विधान !
मुगल कुमारी अविवाहित ही
रहे, राज्य हित हों बलिदान !

यह अप्राकृतिक जीवन क्योंकर
राजसुताएँ झेलें हेय ?
स्नेहपूर्ण यदि नर्क, मनोहर,
एकाकी को स्वर्ग न प्रेय !

मेरी गति की यदि सीमा है
भाव असीम न बँध सकते !
सम्राटों के अनुशासन से
कभी न हृदय बदल सकते !

सुनती हूँ मैं बन्धु-विचारावलि
संगीत शास्त्र के हित !
'है संगीत कुफ्र', कर सकते
नहीं दमित अन्तर-संगीत !

श्रुतियों में वह बसी मधुर
प्रियतम की रागमयी वाणी।
गूँज उठी दीवान ग्राम में
प्रिय अति जानी - पहचानी !

सान्ध्य गोष्ठियाँ पितु शासन में
होती थीं संगीतमयी।
संगीतज्ञ स्वयं, थी उनकी
स्वर लहरी माधुर्यमयी !

अतः प्रचुर प्रोत्साहन गायक,
गायन को उस काल मिला।
श्रेष्ठ कलाओं की उन्नति से
जीवन सुन्दर रंग - भरा !

छत्रसाल बूँदी का, जिसको
सभी 'दुलेरा' कहते थे।
मन कहता था जिसको राजा
स्वर में स्वर्ग उतरते थे !

उसके गीतों की प्रतिध्वनियाँ
आज हृदय में गूँज रहीं !
कौन उन्हें बन्दी कर सकता
प्रतिपल उर में कूज रही !

गीतों के उन मधुर स्वरों ने
नव्य लोक निर्माण किया।
विभीषिकाओं के रौरव में
प्राण देख सुख-स्वप्न जिया !

पत्तों का यह मर्मर स्वर
नौबतखाने की सी अनुहार

यमुना की कल-कल ध्वनि से
स्मृति में उठती वीणा-झंकार।

गहरी करुणा की छाया सी
मन पर जैसे घिर आई,
दिल्ली में संगीत नहीं अब
भय की ही छाया छाई।

नहीं उन दिनों शुजा रहे
बंगाल प्रान्त के सूबेदार,
तब तक नहीं रूप देखे थे
शत सहस्र, यौवन का लास।

तब तक फैली राज-महल में
न थी द्वेष की आग प्रबल,
उत्सव होते नित्य नए, यों
जीवन के दिन रहे निकल।

पुष्पबाटिका में प्रतीक्षा-
आएँगे क्या बन्धु नहीं?
राखी बाँध स्नेह का परिचय
दिया, हृदय की बात कही।

आए, सन्ध्या की बेला थी
नभ में दिनकर की लाली,

कुछ नक्षत्र झाँकने आए
मेरे उर की अरुणाली।

आकर जब वह खड़े हुए थे
मेरे इस जीवन के प्राण,
संभ्रम से किंचित अवनत हो,
मैंने उनको किया प्रणाम।

पर्दे के पीछे से प्रियतम
ने अभिवादन मुझे किया,
मैंने भी उनका अभिनन्दन
कृतज्ञता को प्रकट किया।

कहा उन्होंने—(उसवाणी की
गूँज आज प्राणों में शेष,
मरु से सूखे जीवन को भी
स्मृति सरसित करती लवलेश।)

"राजकुमारी! दुर्दिन में, युवराज
रहे थे जब सम्राट्,
गए उदयपुर, स्वागतार्थ
निर्माण हुआ था द्वार विराट्।

"सदा रहा है, और रहेगा
क्षत्रिय जब तक, आलोकित,
जब तक शक्ति भुजा में मेरी
असि सेवा-प्रस्तुत, इंगित।"

कृतज्ञता से सुना कथन, पूछा
"पर राजपूत-सम्मान?
दोनों की युगपत् रक्षा का
कैसे होगा पूर्ण विधान?"

हास मलिन हो उठा; रुके क्षण,
फिर कुछ कहना शुरू किया
लगा–किसी ने निर्बल स्थल को
सहसा ही झकझोर दिया !

"है दुर्भाग्य, देश के द्रोही
नेताओं से आमंत्रित !
जिन पर रक्षा भार, परस्पर
कर विनाश होते प्रमुदित !

"जयचन्दी इतिहास देश का
कैसे भूला जा सकता ?
मेरे मुँह से अनजाने ही
निकल पड़ा "पर संयुक्ता ?"

स्मिति-रेखा जो क्षण भर को ही
मुख - मण्डल पर खिची रही
उसकी उज्ज्वल लिपि में मैंने
अपनी भाग्य-रेख पढ़ली !

ऊष्मा की लहरी ने सारा
तन - मन डुबा दिया लज्जित
अपनी उर - धड़कन की ही मैं
ध्वनि-प्रतिध्वनि सुनती गुंजित

कुछ क्षण मे प्रकृतिस्थ हुई
जलधारा की कलकल को सुन
वह अगला इतिहास कह रहे
बिखरी लड़ियों का सक्रम

भारत स्वतंत्रता का सपना
राणा -- साँगा ने देखा !

थे पराक्रमी अतिशय, उनको
दिया घातियों ने धोखा।

"अकबर अखिल देश-सम्राट्
राणा प्रताप मेवाड़ - धनी;
भारत-ऐक्य-स्वप्न अकबर का
राणा थे मेवाड़ ऋणी !

"कितने राजपूत राजों का
अकबर को बल रहा मिला;
कुछ सामन्त सहायक लेकर,
राणा ने बोला हमला !

'सब सुख - साधन त्याग
कठिन जीवन उनने अपनाया था।
और आन की रक्षा कर
संस्कृति-गौरव दिखलाया था!

"अकबर ने अति नृशंसता से
लूटी बप्पा - रजधानी ।
करुण गीत गाए जाते
अवशेष आज है सहदानी !

"राणा-प्रवेश जब दुर्ग - देश,
अथवा उससे बाहर जाते ।
बजते रणवाद्य सदा ही तब,
वन्दीगण विरुदावलि गाते !

"सालुम्ब्रा नृप का निघन हुआ
तब से सब हिम्मत गए हार
राणा बप्पा के वंशज गण
ने किया न अतिक्रम सूर्य-द्वार !

"मारू बाजे सब हुए बन्द
हो गया भाग्य ही जब प्रतीप,
तबसे रजपूती गौरव का
आलोक हुआ बुझता प्रदीप !

"राणा कुम्भा के विजय-स्तम्भ,
जयमल फत्ता के वीर गान,
जौहर करने वाली रमणी,
राणा की गाथाएँ शेषमान !"

आवेश भरे थे बोल रहे
सहसा जैसे कुछ चेत हुआ !
लज्जित से क्षमाप्रार्थी, यद्यपि
मेरा कहना हेतु हुआ !

"है मुगलवंश में महामान्य
श्रद्धाभाजन दादा अकबर !"
"यदि लगा कथन मेरा अनुचित,
हूँ क्षम्य, दुखाया हो यदि उर !

"मानव-हित जब दो पक्षों में
बँट जाए, तब अनिवार्य भेद !
हित-दृष्टि पृथक होगी निश्चित,
हो मोद किसी को, रहे खेद !

"यद्यपि सच, जो कुछ अभी कहा
पर बदल गई स्थितियाँ सब अब

किस समय कौन सा संस्कार
प्रेरक बन कर मन में झूमे !

"अकबर सच में ही थे महान
जीवन की पूर्ति देख पाए !
सब तोड़ भेद की काराएँ
मानवता-मूर्ति लेख पाए !

"आदर्श धरा पर यह जब तक
अस्तित्व बनाए रक्खेंगे,
मानवता की आशा जीवित
भय-शंका-सर्प न डस लेंगे !

"अपने पूर्वज-गण के अस्त्रों
की शपथ—प्रतिज्ञा यह मेरी
सम्राट्, जहाँनारा, दारा
की आजीवन यह असि चेरी !"

यह कहते ऊँचा किया हाथ,
असि चमक वृत्त में घूम गई।
झिलमिली तैरती आँखों में
कुछ चकाचौंध थी ज्योतिमयी !

इतने में, नीरव उपवन में
'रजपूत नरेश, हुआ गुंजित !
कहने वाला प्रत्यक्ष न था
केवल प्रतिध्वनि हो रही ध्वनित !

७७

कल्प – लोक

कल्प-लोक

(आँचलमाला सूख रही!)

प्रथम मिलन की उस सन्ध्या को
कल्पलोक में जीया है ।
उसकी सम्मोहक स्मृति अब भी
इस तमसा का दीया है !

मधु अतीत साकार रूप धर
कथा-पंक्तियों में संचित !
वह ही तो इसका जीवन-रस
जिससे संजीवित सुरभित !

प्रिय के स्मृत्यालोक सहारे
भूत-गुहा में गहन उतर;
फिर से पहुँची उस अतीत में
काल और स्थल अतिक्रम कर !

बैठी हूँ अलिन्द में, नीचे
जल की धार प्रवाहित है
निकट खड़े हैं वृक्ष, पत्र-
छाया मस्तक पर नर्तित है !

कितने तारे चमक रहे हैं;
तीव्र-क्षीण उनका आलोक !
प्रतिबिम्बित सब जल-धारा में
नाच रहे हैं, रच नव लोक !

शीतल पवन निशा की, मेरा
तप्त गात दुलराती है,
फूल खिले हैं विविध, तरल
उनकी सुवास लहराती है !

दीपदान के पार्श्व बैठ, सित
पुष्पमाल कर गूँथ रहा
मनःअश्व की गति अति दुर्दम
नई भूमि को खूँद रहा !

जीवन के मृदु, मधु रूपों की
स्वप्न-सृष्टि सर्जन करती !
कोई नहीं हिसाब, कल्पना में
क्या-क्या चिंतन करती !

मुझको कुछ यह होश नहीं,
झरते आँसू कब मुस्काती !
आशा और निराशा की
स्वप्निल जाली में ढक जाती !

तारों भरा गगन ऐसा क्या
कभी धरा पर उतरा था ?
कितना विस्तृत, अनुपम, उज्ज्वल
घेरे मुझको सुन्दर था !

प्रियतम के वस्त्रों की स्मृति है,
रहे श्वेत परिधान धरे !
मध्य भाग की स्वर्णिम पेटी,
आकर्षित युग नयन रहे !

सकल जगत में व्याप्त सुछवि वह,
मन की थी यह गति कैसी ?

वहीं पार्श्व में, पीछे, सम्मुख,
दिशा-दिशा, अन्तर में भी !

संग सोध में वह सहचारी
चिंतन, क्रिया, प्रार्थना में;
उससे पृथक् न सत्ता मेरी
कैसा रूपान्तर मुझमें !

देख इन्दु को पागल सागर
हो उठता है ज्यों उद्भ्रान्त
उसी ज्वार भाटे सी उर-गति
प्रिय-स्मृति से हो रही नितान्त !

हर्ष - विषाद पूर्ण जीवन का
उस स्मृति में ही निहित हुआ।
अनियन्त्रित इस मन का स्पन्दन,
हृदय हाथ से छूट रहा !

है उन्मत्त हृदय की क्रीडा
सजा रहा उत्सव का साज !
रचा रहा है आज स्वयंवर
हुए तुच्छ सारे साम्राज्य !

नक्षत्रों का है प्रकाश,
यमुना-कलध्वनि वीणा-सगीत,
सारा जग है आज निमंत्रित
वजा स्वयंवर का संगीत,

विविध कल्पनाओं का दर्पण,
मुझे दिखाता रूप सचित्र !
स्वर्ण-खचित सिंहासन ऊपर
बैठी हूँ मैं पिता सहित !

एक-एक कितने भूपालों,
सामन्तों की भीड़ रही !
सबसे पीछे मेरे प्रियतम
निष्प्रभ सबकी दीप्ति हुई !

उद्भ्रान्तावस्था में मेरी
माला उनके कण्ठ पड़ी ।
नहीं उठाती हूँ पग, फिर भी
फिरती हूँ मैं उड़ी-खड़ी !

पत्तों के मर्मर रव-सा ही
प्रिय का नाम हुआ प्रसरित
आज दुलेरा की ध्वनि अवनी
में, अंबर में है गुंजित !

सागर से गंभीर, सूर्य से दीपित
उज्ज्वल युगल नयन !
देख रही प्रियतम की छवि मैं
सुध-बुध भूली हुई मगन !

खद्योतों के पुंज नृत्यरत,
उत्सव सफल बनाने को
आँख गड़ाए देख रही मैं
कल्पित ताने-बाने को !

पति-पत्नी संबंध एक,
उनका न पृथक् अस्तित्व रहा !
सूर्य विना है ज्योति नहीं
औ' ज्योतिहीन रवि भी न हुआ !

सीता ने यों कहा राम से—
"प्रिय काया, मैं छाया हूँ !

जहाँ चलोगे, संग रहूँगी
मैं अनुगामिनी माया हूँ !

"पथ की धूल तुम्हारे संग में
मुझे अगुरु - चन्दन होगी
बीहड़ वन - गिरि - सहयात्रा
मुझको कानन-नन्दन होगी !

मैं भी प्रिय का साथ चाहती
पत्र-लेख की अभिलाषा !
हुआ समर अनिवार्य, शान्ति की
युद्धमात्र ही अब भाषा !

दारा इसमें जयी हुए तो
परिवर्तित कर मुगल-विधान,
प्यारी बहिन जहाँनारा का
विवाह रचेंगे—रक्खा ठान !

भावों का उद्वेग बढ़ रहा,
आँचल माला सूख रही !
आशा का नन्हा अंकुर यह
बन, पाएगा लता कभी ?

कैसा यह आलोक हृदय में,
क्यों मन में है भरी उमंग
हृदय नियंत्रण क्यों न मानता,
प्रतिपल उठते शत-शत प्रश्न !

मैं न समझ पाती अपने को
कोई 'नई' आज मुझ में !
प्रखर लालसा का प्रवाह क्यों ?—
क्यों न आज धीरज मन में !

नाच-नाच मूर्छित हो जाऊँ
गिरूँ, उठूँ, फिर-फिर नाचूँ !
कण-कण तरल रक्त का नर्तित
उर की पुस्तक क्या बाँचूँ !

मुझे आज कुछ होश नहीं है
स्नेह-सुरा है मुझे चढ़ी !
जग यह सारा स्वर्ग दीखता
हर जुगनू भी एक परी !

प्रिय-स्मृति में अस्तित्व समाहित
अद्भुत मन की आज दशा !
दिव्यालोक फैलता जाता
खुलती जातीं नई दिशा !

आज धाक्षितिज धरती मेरी,
अन्तरिक्ष यह, और गगन !
सब पर ममता फैल रही, क्यों
और हुआ जाता है मन !

बिखर गई यह मधु की रजनी
खुला गगन में नया विहान !
स्वर्ग-परी सी पवन तैरती
गाती-सी कुछ मधुमय गान !

बदला-बदला उपवन सारा
नए-नए से दिन औ' रात
नया संदेशा, नई रोशनी
और नया ला रहा प्रभात !

गाती है पक्षिणि मुँडेर पर
    कलरव का विहान - संगीत
चिटक रहीं कलियाँ गुलाब की,
    मधुर गन्ध लेती मन जीत !

दूर कारवाँ चला जा रहा .
    एक गीत का स्मरण अभी
सुना फारसी में था उसको
    कड़ियाँ मन में गूँज रहीं !

कवि ने प्रेम-रूप का चित्रण
    अति कोमल भावों के संग !
धीरे-धीरे गाया मैंने
    मन में उठते कितने रंग !

क्या-क्या सोचा ? नहीं जानती !
    किन्तु कल्पना मूर्त हुई !
स्मृति-साकार हृदय में उभरी
    अपलक उसको देख रही !



पत्र – लेखन

पत्र - लेखन

(तुम आते बन राय पिथौरा अगर तुम्हें मैं वर सकती)

अन्धकार हो रहा अन्त
दिन का प्रकाश खिलता आता।
जाना मुझे पुरानी मसजिद
मुझे शान्त ही है भाता।

दासी ने ला दिया, पत्र का
उत्तर, देखूंगी उसको।
उत्तर भी लिखना—ऐसा
एकान्त वही मिलता मुझको।

मसजिद की सीढी खंडित-सी
पार किया उसको मैंने।
सुना एक सुन्दर पक्षी का
अभिनन्दन हित कल-कूजन।

बैठे थे हिन्दू संन्यासी
पथ में; मृगछाला खोले।
प्रज्ञाचक्षु; किन्तु तेजस्वी
कुछ आशीर्वचन बोले।

भिक्षापात्र रखा था सम्मुख
मुद्राएँ डाली मैंने।
"माँ, ले जाओ मुद्राएँ ये"—
विस्मय से परिपूरित मन !

देख, ध्यान यह आया मन में,
यदि भविष्य निज सुन सकती !
संन्यासी के मुख से निकला
"तुष्टि-कांक्षा क्यों रखती" ?

"आत्मा की उदारता तुममें
मनःतोष से बहुत बड़ी ;
सब कुछ उससे ही पाओगी"
विस्मित सुनती रही खडी ;

"पाकर समय दुःख औ' सुखकी
अनुभूतियाँ शिथिल होतीं ।
जो न सुलझ पाती मानव से
सभी समस्या हल होती ।

"जो भी पावे मनुज, किन्तु वह,
सत्य अधूरा होता है !
सत्य-स्वरूप चिरन्तन, गतिमय
पल-पल रूप बदलता है !

पिछले क्षण था, नही अभी वह
जो अब, वह न रहेगा, तथ्य ;
किन्तु समय के साथ सभी ये
अपने उसी रूप में सत्य ।

कारण, कार्य, काल औ' स्थल
मिल जो परिवेश बनाते हैं ।
घूम रहा वह सदा चक्रवत्
रूप बदलते जाते हैं ।

चिर रहस्य यह ही जीवन का
क्रूर कहो या सहज विधान ।

नेमि-चक्र-क्रम से सुख-दुख भी
ऊपर – नीचे पाते स्थान।

भोग रहा जो जन जीवन में
उसका यही सत्य परिवेश।
मैं हूँ यहाँ, न हूँगा—यह भी,
दोनों सत्य समय – सापेक्ष।

लगा काष्ठवत् हुआ जा रहा
सारा तन, मैं थी विजड़ित ;
संन्यासी न वहाँ थे, मुद्रा
वहीं भूमि पर रहीं पड़ी !

कानों में वह कथन ध्वनित था,
कुछ क्षण यों ही स्थिर रहकर,
पास एक था कूप, वहाँ पर
आई शनैः शनैः चल कर !

निकट स्वच्छ स्थल पर मैं बैठी
फिर प्रियतम का पत्र पढ़ा।
सरल सदाशयता, निश्छलता–
जन्य स्नेह का स्रोत बढ़ा !

तुमने मुझे लिखा है 'देवी'
यदि मैं संयुक्ता होती !
तुम आते बन रायपिथौरा
अगर तुम्हें मैं वर सकती !

तुम क्या जानो–शब्द-शब्द यह
मन-फुलवारी सजा गया।
कितनी बार स्वयंवर यह
मेरे सपनों में रचा गया।

तुमने फिर से मुझे आज
'संयुक्ता' याद दिलाई जब;
तुमको भी क्या पहली सन्ध्या
की स्मृति मन में आई तब ?

आज मुझे यह अनुभव होता
मैं सच ही मैं नारी हूँ,
विविध भाव ही फूल, और
मैं खिली हुई फुलवारी हूँ।

विश्व आज फूले गुलाब सा
मुझको लहराता लगता।
रह-रह कर अति मधुर भाव सा
कम्पन प्राणों में बजता।

अभी आरही थी जब पथ पर
थी प्रभात-शोभा अद्भुत।
पक्षीगण कलरव से स्वागत,
मृगशावक कर ग्रीवानत।

भू से नभ तक एक रंग था
पूर्णानन्द दिशाओं में;
वृक्ष हरे, प्रमुदित नर-नारी
कोई नहीं अभावों में।

स्पर्द्धा-सी मन में होती थी
देख मार्ग के दृश्य विविध।
जन-साधारण-सहज लब्ध-सुख
नहीं भाग्य में क्यों उपलब्ध?

अभिलाषा की मुक्त पूर्ति में
मुझसे वे ही अधिक स्वतंत्र।
मैं सम्राट्-सुता हो कर हूँ
अपने लिए पूर्ण परतंत्र!

इन दीनों—हीनों से मुझको
क्या विशेष उपलब्ध रहा!
सिर पर रविप्रभ-ताम्रकलश की
किरीट-मणि-सी दीप्त प्रभा।

शाहजहाँनाबाद नगर अनुपम
सुन्दरता में अपनी।
एक वृहद् विश्राम-भवन
बनवाऊँ—इच्छा आज घनी।

तन-विश्रान्ति, मानसिक शान्ति
मिले सब पथिकों को उसमें।
मुझे प्राप्त हो सबका आशी,
सच्चे हों सुख के सपने।

बाँटूं सब सम्पत्ति उन्हें
जिनको उसकी आवश्यकता;
व्यय कर दूँ सर्वस्व, न रख कुछ
आज यही मन को रुचता।

इसी समय कुछ जगा हृदय में,
यदि-प्रिय अभी यहाँ आएँ।
लो, सच आए! तुरग त्वरित गति
करता पग दाएँ-बाएँ।

उसे थपथपाकर गर्दन पर
क्षण भर में स्थिर खड़ा किया।
देख रही मैं उन्हें, वह मुझे,
मुखावरण भी हटा हुआ।

उनको अपलक नयन देखते
रहा वक्ष पर दक्षिण कर।
उर-तन्त्री बजती वीणा-सी
झुके-नयन-युग-मीलित कर;

उस सम्भ्रमित भाव में अपना
मुक्ताहार कंठ से खोल
भेंट दिया मैंने प्रियतम को
नयन निमीलित, गद्‌गद् बोल

टप्-टप्-टप् ध्वनि, नयन खुले
लो, उर-सम्राट् जा चुके थे।
लोचन फिर भी प्यासे ही थे,
यद्यपि प्रेय पा चुके थे।

लोभी मन ने दर्शन-स्मृति-निधि-
आश्रय में दिन किए व्यतीत।
कितनी बार सहेजा उसको,
फिर-फिर गिन-गिन रखता भीत।

अंक लगाए उनको प्रति पल,
निर्धन की अंटी सर्वस्व;

उर में सदा सँजोए रखती
किस कुदृष्टि का बने न लक्ष्य !

लगता कभी, पंख यदि होते,
मैं विहगी-सी उड़ जाती ।
राजवंश के नियम-निगड़ की
जकड़ मुक्त हो, खुल जाती ।

जीवन के उन्मद प्रवाह ने
कितना मुझको भरमाया ।
पल-पल भटका, तड़पा, कलपा,
कल न कभी भी मन पाया ।

नहीं आज भी यह कह सकती
प्रेय रहा या पीर रही !
जीवन-क्षण या मृत्यु भली थी,
मधुर पीर उर चीर रही !

शीतल लेप रहा या ज्वाला,
उर सरिता की बाढ़ रही !
एक तीव्रता थी अन्तर की
जो प्राणों को दाह रही !

यद्यपि आयु न अल्प रही थी,
अनुभव औ' अध्ययन रहा ।
किन्तु न कुछ भी आड़े आया,
प्रणय—बाढ़ में सभी ढहा ।

आयु सरक कर पीछे चलती
फिर से हुई किशोरी थी !
सहज मुक्त– तत्परता खोई,
नव अनुभव में कोरी थी !

इस प्रसंग में भीषण-घटना
होती स्मरण विगत की वह
अब भी हृदय कँपा जाती है
गात कंटकित कर रह-रह !

गुलरुख बाई श्रेष्ठ नर्तकी
रहने वाली ग्वालियर की !
सुप्रिय थी वह अतिशय मुझको,
उसकी मृत्यु अकाल हुई !

जिस दिन की यह घटना,
उसने नख से शिख शृंगार किया!
पहन बदामी रंग चूनरी
जिसे इत्र में बोर दिया !

बुझने से पहले दीपक की
लौ हो तीव्र भभक जाए !
मृत्यु-पूर्व सब इन्द्रिय जैसे
विषय– सूक्ष्म हो जग जाएँ !

वह चंचल हरिणी-सी नाची
पवन-प्रेरिता पुतली-सी,
नृत्य अवर्णनीय उस दिन का
वाणी होती तुतली-सी !

मधुर कण्ठ-लहरी भी उस दिन
दिव्य अपार्थिव मुझे लगी !
चिर परिचित था गीत, किंतु
कुछ नई-नई अनुभूति जगी !

नृत्य समाप्त हुआ, फिर गुलरुख
उठ कर चली छोड़ वह स्थान !
किया, बधाई उसको देने
मैंने भी तत्क्षण प्रस्थान !

इतने में समीर के झोंके
से चुनरी के आंचल ने
लौ का स्पर्श किया, गुलरुख
आ गई लपेटे में क्षण में !

दावा-दाह-दग्ध हरिणी-सी
अग्नि-त्रस्त, बचने भागी !
उसका पीछा करती-करती
आंगन तक मैं भी आई !

उत्तरीय निज उस पर डाला
मेरा सूक्ष्म-वसन भी ध्वस्त
सहायतार्थ चीत्कार, चल रहा
था दरबार उधर आश्वस्त !

राखीबन्धु वहीं, ध्यान आया—
क्या आजाएंगे वह भी !
क्या रक्षा के व्याज आज वह
स्पर्श करेंगे यह तन भी !

उस स्थिति में भी लज्जा से
लाल हुई इस चिन्तन पर,
आंधी-सी थी उठी हृदय में
जलते तन व वसन फर-फर!

फिर न चेतना मुझे रही थी
बहुत समय शय्या-शायी!
गुलरुख-निधन-ज्ञान से द्विगुणित
पीड़ा थी अति कष्टमयी!

ध्यान आज भी उसका मुझको
घोर व्यथा दे जाता है!
घाव भरा, न अभाव भरेगा,
घन विषाद छा जाता है!

चार मास इस विषम व्यथा,
भीषण पीड़ा में गए निकल!
जीवन-मरण हिंडोला-जीवन,
पिता रहे अतिशय आकुल!

स्वस्थ हुई जब दीर्घ-काल में
महाभोज का हुआ विधान!
पूर्ण देश में आनन्दोत्सव
गया मनाया प्रीति-प्रदान!

भ्राता भी सब रहे उपस्थित
रत्न अमूल्य मिले उपहार!
उन सब को भी भेंट पिताने
दी, था उनको हर्ष अपार!

सब में भाई औरंग को ही
बड़ा लाभ-[१६] था प्राप्त हुआ!

छिना हुआ जो, फिर वह शासन
क्षमा करवाकर, उन्हें दिया !

औरंगजेब - संग दक्षिण में
राखीबन्धु गए रण-हित
मैंने राखी उनको भेजी
उनने भी उपहार विशिष्ट !

पत्र लिखा–"मुझको सुख होगा,
मेरा पूर्ण इष्ट कर दें !
हस्तिदन्त पर निर्मित अपना
एक चित्र प्रेपित करदें !"

स्वर्ग – निपात

स्वर्ग-निपात

(एक रहे नृप जिनने देखा, जीवित स्वर्ग-गमन का स्वप्न)

छिप न सका वह पत्र पिता से
लिखा उन्होंने औरंग को ।
बहुत समय में उत्तर पाया,
दमित हृदय की उमंग को !

पत्र खोलते ही यह देखा—
लिपि अतिशय ही थी निर्बल !
पढ़ कर मन आश्चर्य-चकित था,
ध्वस्त हुआ जीवन-सम्बल !

लगा—हिमालय डोल गया है,
उगा सूर्य क्या पश्चिम में !
क्यों कर बन्धु हुए परिवर्तित,
विविध कल्प उठते जी मे !

राजपूत का चित्र न रखता
मुगल-कुमारी निकट महत्त्व !"—
इन शब्दों से अन्त हुआ था,
हिम-शीतल छोटा-सा पत्र !

मैं अवाक् निस्पन्द हो रही
अन्धकार छाता जाता !
उर की गति भी रुद्ध प्राय-सी
जीवन-मूर्ति कौन ढाता ?

मन में यह विचार आया
मेरे इस दुरवस्था में ही !
निन्दा मेरी सुनी किसी से,
या विरोध में चर्चा ही !

किन्तु सुबन्धु ! न मैं पतियाती,
मुझसे कोई कुछ कहता
तुम जब तक मुख से न बताते,
मुझे तुम्हारा बल रहता !

रोशनआरा ने ही अथवा
मेरे प्रति कुछ विष उगला ?
मेरी, दारा की अति द्रोही,
अलगाने की नई कला ?

दारा के तुम सर्वप्रधान
सहारे हो अति विश्वसनीय !
इस आश्रय को भग्न कराने
की क्या कोई चुनली नीति ?

शत-शत प्रश्न कर रहे हलचल
किन्तु कौन उत्तर देता ?
नयन खो रहे थे प्रकाश को,
क्रमशः तिमिर निविड़ होता !

सहस्र दीपक जले महल में
निशि के तम को करने दूर
वीणा, वंशी-ध्वनि, करताल
आदि हँसती-सी थीं सब क्रूर !

'झंझा का संगीत तीव्र हो'—
वादक को आदेश दिया !

मेरे अन्तर की आंधी से
उसका लय था अल्प मिला !

शान्त हुए स्वर, किन्तु प्रतिध्वनि
श्रवणों में गूंजती रही !
एक शिला पर जा लेटी मैं
तप्त, दग्ध, धूजती हुई !

मन में हाहाकार मचा था
हृदय हो रहा था दिग्भ्रान्त !
कितने भेजे पत्र, न उत्तर
मिला एक का भी क्यों, हन्त !

राखीबन्धु व्यस्त इतने हैं,
इतना भी अवकाश नहीं,
कुशल-क्षेम तो सूचित करदें,
क्यों न उन्हें परवाह रही !

शीतल झोका एक पवन का
दुलराता-सा चला गया !
स्वस्थ किया तन,मन आश्वस्त,
प्रकृतिस्थ हृदय,जो मला गया !

सभी सृष्टि विधि से सर्जित है
देन उसी की यह पीड़ा !
मानव मात्र बाध्य सहने को
ऊपर वाले की क्रीड़ा !

ओ अनन्त !, मैं तुझे समर्पित,
जैसे चाहे मुझको रख !
तूने ही आकाश चढ़ाया,
यदि चाहे पाताल पटक !

शाहजहाँ सम्राट सुता !
अपनी इच्छाओं की स्वामिनि !
प्रतिरोध करे किसमें क्षमता !
वह यों उपेक्षिता अनुरागिनि !

सम्मुख जिसकी इच्छा के
सारा भारत ही नत होता;
साधारण नारी के समान
उसका उर खण्ड-खण्ड रोता !

अपनी क्षमता के बल ही तो
साहस से उर का दान दिया
राखी के कच्चे धागे से
था अटल स्नेह को मान दिया!

ऐसा सर्वस्व समर्पण था,
उसका यह प्रत्याख्यान रहा
सम्राट्-कुमारी का गौरव
हो धूलिसात्, बन नीर बहा !

तुम कहीं न जाओ भूल,सत्य—
पहले तुम मात्र जहाँनारा
चलती है सतत नियति की गति
जिसके सम्मुख नित नर हारा!

समझी थी जिसे अमोघ शक्ति,
वह झटके भर में छिन सकती!
उसके हाथों की कठपुतली
सब सूत्र सहारे ही नचतीं !

मैं दीन, विनम्र हुई अतिशय,
अपने यथार्थ का ज्ञान कर !
तन-मन-धन-वैभव और रूप
का गर्व हुआ सब चूर-चूर !

घटनाएँ ऐसी स्मरण हुईं
कुछ समय पूर्व जो रहीं घटी;
तब ध्यान विशेष दिया न किंतु
परिणाम-सूत्र से रहीं बटी;

बूँदी के इस चौहान वंश के
राजपूत विख्यात रहे ;
शूरवीर वह गण्यमान, फिर
अपर गुणों की ख्याति लिए !

कैसी है किंतु जाति यह भी
अपने न बन्धु को सह सकती!
करते हैं राजपूत ईर्ष्या
सब देख तुम्हारी पद-उन्नति !

करते हैं वे तुम्हें प्रचारित
एक नर्तकी की सन्तान
वीर, प्रतापी, सुन्दर ! तुमको
'गायक' कह करते अपमान !

वर्षा के झरने से स्वर ने
मुझको मुग्ध बनाया है !

मृग से सुन्दर नयन, रूप ने
बरबस मुझे लुभाया है !

मेरे अनुग्रह-पात्र हुए तुम
मान तुम्हारा अधिक बढ़ा;
दारा के तुम प्रमुख सहायक—
कितनों के यह हृदय गड़ा !

एक दिवस तुम अश्वारोही
निज पदाति सेना के संग,
आते थे दरबार, महावत-
खाँ से उखड़ा अप्रिय प्रसंग !

बन्धु-पुत्र राणा प्रताप के
थे स्वधर्म-द्रोही यद्यपि;
किन्तु अभ्युदय नहीं तुम्हारा
रुचा, कहा—गायक का दप

रुष्ट रहे पहले दारा से
मुझसे भी अब मन में खार !
ऐसे ही—प्रवेश कर,—आए
झण्डा बिना लिए, दरबार !

पूछे जाने पर उत्तर था—
गायक तक को जब अधिकार,
झण्डा लेकर आ सकता है;
मुझे अनावश्यक उपचार !

उसी समय आभास हुआ—
संख्या विपक्ष की बढ़ी हुई
थे शुभेच्छु औरंगजेब के,
षड्यन्त्रों की गढ़ी रही !

कुछ कारण-व्यवहार-कुशलता
का दारा में प्रकट अभाव,
नहीं जानते सम्मानित जन
को प्रसन्न रखने के दाव !

अहंकार-सा भाव कभी
उनका व्यवहार जताता है,
अवसर-लाभ मधुर बन लेना—
नहीं उन्हें यह आता है !

इसीलिए सामन्त-गणों में
अप्रियता उनको उपलब्ध।
पिता विलास-प्रेम में डूबे
राज्य कार्य से हुए विरक्त !

शक्ति-केन्द्र हो रहे विखण्डित
अवसरवादी तत्त्व बढ़े,
हुआ महावतखाँ को साहस—
राजद्रोह की बात करे !

वही महावतखाँ का उत्तर
मन में घूमा बहुत सम
दूषित भावों का यह
चिन्तनीय बन गये

पिता बातों
हो

विवश रही, इन घटनाओं में
होनी का था मूढ़ रहस्य !

पिता कदाचित् साम्राज्य को
हस्तामलक समझते थे।
भावी के बादल काले-से
किन्तु मुझे क्यों दिखते थे ?

वैसा ही संयोग उपस्थित
कुछ दिन पीछे पुनः हुआ !
राजसौध में रहे महावत
छत्रसाल आगमन हुआ !

देख दुलेरा को, विकृत मुख
नासापुट थे फड़क उठे !
रेखा मुखमुद्रा की सिकुड़ी !
मन में जैसे भड़क उठे !

बोले साधारण गायक के
सैनिक, और पताका हाय !
हम अमीर, ऊँचे पद वाले,
बैठेंगे क्या इनके साथ ?

गायक-से साधारण जन
अधिकारी के हित तजते पथ;
मान बढ़ रहा इतना, इनके
सम्मुख क्या हम होंगे नत ?

निहित व्यंजना कितनी मार्मिक,
तीखी श्री' वेदर्द रही !
लज्जा से अवनत मस्तक ले
अन्तःपुर में चली गई;

रोषपूर्ण आवेश भरा था
थर-थर तन भी काँप रहा।
नयनों से, नासापुट से था,
निकल श्वास से वाष्प रहा !

चिन्गारी-सी छूट रही थीं
तन-मन में था झाल भरा
इस असह्य अपमान ज्वाल ने
नीचा मेरा भाल करा !

वे दिन मेरे ! पिता दृष्टि में
फणिधर को ज्यों मणि होती !
नूरजहाँ, मुमताजमहल सी
साम्राज्य-शासन करती !

फिर, दमयन्ती सीता का
आदर्श जगा, मेरे मन में।
राजा नल या राम, दुलेरा
बन न सके पर जन-मन में !

ग्ररा ने भी राणादिल से
प्रेम किया, नर्तकी रही !
उसके साथ विवाह कर सकते
यह अनुमति उनको दे दी !

सम्राट् अकबर की प्रपौत्री
सौत नादिरा-बेगम की !
यह सम्मान और अधिकार
मिला, उसकी स्थिति विषम न थी !

किसी कर्मचारी में क्षमता
न थी,पालकी रोक सके !
यह युवराज-प्रणय-पात्री थी,
किसका साहस टोक सके !

मेरी भी क्या वही स्थिति न थी ?
किन्तु हुई मैं तिरस्कृता !
हुए दुलेरा मेरे कारण
अपमानित, यह कठिन व्यथा !

लगा—दुखी मैं अकिंचना हूँ
किसी छिद्र में छिपी रहूँ !
अब न किसी को अपमानित यह
मुख दिखलाऊँ, मौन गहूँ !

बैठी थी मैं विजन सौधमें
दुख भू, नभ-छोरों में व्याप्त !
कहीं न उसका वार-पार था,
नारी जीवन का अभिशाप !

नहीं 'जहाँनारा' जैसे, मैं
सारे जग की हूँ, तलछट
चिन्तन-रज्जु उलझती जाती
नहीं सुलझती थी गुलझट।

प्यार किया! वह भी नारी बन!!
उस पर मुगल-वंश की जात!!!
अभिमानिनी जहाँनारा बेगम,
फिर, क्यों न सहो उत्ताप?

भूल भयंकर यह जीवन में
हुई न होती, तो फिर आज
पड़ता यह दिन नहीं देखना
सिर पर नहीं टूटती गाज!

यदि अपने नायक के ही तुम
इतने निकट न आ जाती
शायद यह न विरोध झेलती
कटुता-पूर्ण न फल पातीं!

चुन विशेष में उनको माना!
उनमें भी फिर पुरुषोत्तम!!
कैसे अधिकारी सह सकते,
स्वयं रहे जो सर्वोत्तम!!

यह प्रतिक्रिया उसी भाव की,
यही भाग्य में रहा बदा!
ईर्ष्या, स्पर्धा और निराशा
का घातक परिणाम सदा!

मन की हलचल बड़ी विषम थी,
अधिक देर रह सकी न स्थिर.
उठ कर फिर खिड़की पर आई
सही न जाती मन की पीर !

सम्मुख साधारण-सा घर था
साधारण गृहिणी का साज !
उसका घर, पति, सन्तति उसकी
जिन पर करती है वह राज !

उसके जीवन में जो गौरव
शान्ति और सुख की छाया !
मुझे हुए वे सब ही छलना,
मृग-मरीचिका की माया !

जितना मन उस ओर दौड़ता
वह सुख होता जाता दूर !
भू-नभ का अन्तर अतीत औ'
वर्तमान में, जग है क्रूर !

सारी अभिलाषा, आकांक्षा,
अरमानों के टूक हुए !
दीन-दुखी, हूँ आज अकिंचन
आज प्राण-खग मूक हुए !

बेगम नूरजहाँ के इस
जसमिन-प्रसाद में है बैठी
फिर-फिर अविरत मेघ बरसते
जल-थल मर्यादा मेटी !

सभी दिशाओंसे मिल-मिल कर
खण्ड-खण्ड थे एकत्रित
संघ - शक्ति से वृष्टि हुई थी,
अब होते यह सब विघटित !

छिन्न-भिन्न हो, क्षीण-शक्ति भी
फिर न बरस ये पाते हैं ;
ऐसा ही मानव-जीवन को
समय-सुयोग बनाते है !

जीवन का प्रतिबिम्ब प्रकृति में
सदा देखने को मिलता !
माँ, गुरु, धात्री, संगिनि भी है;
उससे बल-सम्बल मिलता !

राखीबन्धु ! कहाँ, कैसे हो ?
क्यों तुम इतनी दूर पड़े ?
तुम्हीं सुझा सकते असम
किन्तु समय, स्थल बी

नीचे यह यमुना की धारा
लहरों में आकर्षण है !
जीवन, जीवन की मादकता
नर्तन अविरत नर्तन है !

तारों से यह प्रतिविम्बित है
लुक-छिप की बेसुध क्रीड़ा।
दिवास्वप्न में रचा स्वयंवर
उस दिन की मन में व्रीड़ा !

एक रहे नृप जिनने देखा
जीवित स्वर्ग-गमन का स्वप्न!
स्वर्ग-निपात हुआ था उनका,
लटके हैं अब बने त्रिशंकु !



विवाह - प्रसंग

विवाह-प्रसंग

(वह तरी न जिसका कूल कहीं)

हृदय-दान अनमोल, मिला
मिट्टी में, मूल्य न था कुछ शेष
किन्तु लुटा सर्वस्व, हुई थी
मैं नितान्त मृतवत् निश्शेष

धूलिसात् सब आशाएँ थीं
जीवन शक्ति नहीं अवशिष्ट
आकुल मन में उत्कट पीड़ा
की ही हलचल रही विशिष्ट

छिटके, भटके, उखड़े मन को
किसी केन्द्र पर बाँध रखूँ ;
रहती थी यों सदा व्यस्त, रत,
जर्जर जीवन साथ सकूँ !

जुम्मा मसजिद से लौटी थी—
उस दिन, शान्ति न थी मनमें;
वृत्ति उचाट हुई कुछ ऐसी ,
भरी उदासी कण-कण में।

रंग - बिरंगे फूल खिले
कितने वसुधा पर रहे गिरे ;
मन बहलाने के प्रयत्न सब
व्यर्थ, हृदय-क्षत हुए हरे !

उत्तर यद्यपि कुछ दे न सकी
भावों की भीड़ दबोच रही।

दारा सम्राट् बनेंगे जब
जिस से होगा मेरा विवाह,
होगा प्रधान अधिकारी वह
पद-उन्नति की यह सहज राह!

ज्यों धूम-पटल में दीप-ज्योति,
कानन-तरुओं में महाश्वत्थ,
तारा-समूह में शुक्र-दीप्त,
देखा था वीरों में नजवत!

कोमलता का अधिवास नहीं,
था सबल वदन पुरुषार्थपूर्ण,
महदाकांक्षा हो मूर्तिमान,
चिन्तन-सक्रिय, अति प्रगति तूर्ण।

सेना - अधिनायक पराक्रमी
नजवतखाँ की यह रही मूर्ति!
हँसती देखी दूसरी ओर
मन के अभाव की सहज पूर्ति!

जो सहज शौर्य से युक्त रही,
नयनों में उज्ज्वल सरल हास,
स्वर के आरोहण-अवरोहण,
संग भावों का मधुरिम विलास!

वैसा आकर्षण कभी नहीं,
देखा सुहास में कहीं और,
ध्वनि की वह कोमल तरल लहर
उठती जिससे मन में हिलोर!

जो सहज उदार विचार-पुंज
जिसमें स्वभोग कीनहीं वृत्ति
हो जाय समर्पित—जीवन की
साधना—यही थी लक्ष्यपूर्ति !

भाई ने तभी कहा यह फिर—
"सम्राट् पिता से परामर्श
मैं आज करूँगा, इसी रात
प्रस्तावित उन से यह सहर्ष!"

कोई उत्तर था नहीं पास,
सिर उठा उन्हें मैंने देखा।
हो-हो-हो कर हँसते हँसते
थीं खिली हुई सब मुख रेखा !

उत्तर की नहीं प्रतीक्षा की
वे तभी वहाँ से चले गए
मैं देख रही नीरव अपलक
वह मुड़े, चले, सच चले गए !

जब-जब प्रसंग यह जीवन में
था उठा, हँसी में बीत गया।
पर अब कौतुक-अवसर न रहा,
अब चुक जीवन-संगीत गया !

मन में न ठिठोली की रुचि अब
जीवन-आश्चर्य का विकट प्रश्न—

किस राजवंश की छाया में
चल सकता जीवन-शकट सुगम !

सन्ध्या वेला थी, बुरके में
आपाद-शीश आवृता हुई;
आई उपवन में, जहाँ विविध
सुमनों, कलियों की गन्ध बही।

पावस की सन्ध्या रंगमयी
उन्मद-आकांक्षा-मदिर - भरी;
जिसकी रक्तिम आभा पाकर
प्रासाद-कान्ति थी बदल गई !

अस्तोन्मुख रवि-किरणें भी अब
थीं शनैः शनैः हो रहीं श्याम !
अद्भुत अपार्थिव सुछवि उतर
छाई जाती, मन मुग्ध-काम !

प्रस्तर-निर्मित आसन्दी पर
तरु-छाया में मैं गई बैठ;
फिर बढ़ने लगा दाह प्रतिपल
तीखी पीड़ा उर गई पैठ।

"मैं नजवतखाँ की परिणीता !"
"मैं बल्ख राज्य की महारानी !"
क्या स्नेह-रहित जीवन सम्भव,
सह पाएगा यह उर मानी ?

हो सकता कभी न राज्य-लोभ
जीवन-सार्थकता-मूल कहीं !
है भार स्नेह बिन यह जीवन;
वह तरी-न जिसका कूल कहीं !

कितनी ही बातें इस प्रवाह
में बहते-बहते गईं सोच;
अन्तर-गह्वर में शिला अड़ी
सबको छिटकाती रही कोंच !

वह राखी मैंने क्यों बाँधी ?
मसजिद में जा जो पत्र पढ़ा;
अभिप्राय आज क्या उन सबका,
क्या उस अतीत का अर्थ रहा ?

क्या मुझे त्याग देंगे प्रिय यों ?
क्या वह अतीत को भूल गए ?
संयुक्ता नाम दिया मुझको
बन रायपिथौरा भूल गए !

सन्ध्या की लाली लगी चिता
लपटों धूएँ से घिरी हुई
कुछ राख फैलती इधर-उधर
अरमानों की बिखरी ढेरी !

भाई दीवानेखास गए,
हो रही लौटने की बेला।
मैं रही प्रतीक्षा में उनकी—
मन में था द्वन्द्वों का मेला !

उद्वेग सघन होता जाता
कैसे निर्णय यह रुका रहे !

अन्तर्पीड़ा पर आच्छादन
अवरोध-आवरण ढका रहे !

सुन पड़ा तभी सम्वाद गूढ़,
फिर देख पड़े दो अधिकारी
पत्तों के सघन आवरण में
नजवत को देख, छिपी सारी !

"सिंहासन की कांक्षा दारा,
रखते यह उनकी बड़ी भूल।
तलवार हाथ में यह जब तक,
वह हो जाएगी शीघ्र धूल !

"मुझसे, सम्राट-कुमारी का
परिणय अब तक निश्चित न हुआ !
अन्तःपुर में ही चाह रहे
रखना, कुछ ऐसा विदित हुआ !"

नजवत, जाफर[१२] चल साथ-साथ
आ पहुँचे सरवर के समीप
फिर बैठ गए मृदु दूर्वा के
मखमली बिछावन पर, सुस्थिर !

मैं साँस रोक, आवरण निकट
सुनती यह वार्ता, सजग खड़ी।
सच्चे परिचय का अनायास
यों अवसर पाकर रही गड़ी !

स्वर अपर— "बदलने निज विचार
सम्राट् बाध्य हो जाएँगे;
रक्षार्थ राज्य अनिवार्य सैन्य
यों सहज-साध्य हो जाएँगे !"

"विद्रोही पुत्रों की परम्परा
मुग़लवंश में बनी रही ।
सम्राट् पिता के द्रोही थे,
अब निज पुत्रों में ठनी हुई !

"विद्रोह अवश्यम्भावी है
अवसर का लाभ उठाना है।
इस पोल-ढोल में फूल खूब
संचय कर शक्ति बढ़ाना है !

"सम्राट्-सुता विख्यात सुन्दरी,
विदुषी, बुद्धिमती अतिशय ।
सम्पत्ति-स्रोत भी प्रचुर रहे
वह सहज छोड़ने के न विषय !

"सूरत की सारी चुंगी की
सम्राट्-कृपा से है स्वामिनि।
कितने ही अन्य साधनों से
उपलब्ध आय उसकी अपनी।

"सम्राट् राज्य की फिक्र छोड़
बेटों में सब दायित्व बाँट।
अतिशय विलास में डूब रहे
कस रहा-जाल, यह विषम ठाठ !

"मुमताज महल के साए के
सिर से उठ जाने से उनका,
जैसे लगाम से रहित अश्व,
है बिना महावत गज मन का!

"खलिलुल्लाखाँ** की पत्नी का
चर्चा जन-जन की जिह्वा पर !

सलहज तक को छल से बुलवा
कर दिया नष्ट, यह रही खबर !

"यह दवा-दवा खलिलुल्लाखाँ,
शाइस्ताखाँ** का द्वेष-दाह,
करके छोडेगा भस्म उन्हें,
उससे बचने की है न राह !

"जोड़ा जाता कमजोरी से इस
नाम जहाँनारा तक का,
है लगा पिता-पुत्री के मन
को इसी लिए गहरा धक्का !

"रहते दोनों ही खिचे-खिचे
पर बात नहीं जो जाय कही !
दोनो मन ही मन दुखी, नहीं
जाती यह स्थिति निरुपाय सही !

"यह श्रेय जहाँनारा को ही
जो राज्य अभी तक स्थाई है
बिखरे सूत्रों को जोड़-जोड़
वह रक्षा करती आई है !

"है दूरदर्शिनी पुत्रों से
फिर दुर्गुण-गण से रही हीन ।
औरंगजेब भी इसीलिए
चाहता—विपक्षी हो कभी न !

"उसको पाकर तुम महाबली
हो जाओगे सन्देह नहीं !
आशा का यों मत करो त्याग
मन करो मलिन मत, प्रेय यहीं !"

नजवत यह सुन उठ खड़े हुए,
आवेशमयी थी मुखमुद्रा !
"मन में मेरे न विचार उठा
परिणय में मिले जहाँनारा !

"इस आकांक्षा के सृजक स्वयं
दारा,' युवराज अहंकारी !
साम्राज्य-महत्वाकांक्षा से
प्रेरित यह चिन्तन-विधि सारी !

"देखी है स्वयं जहानारा
वह सर्वप्रशंसित रूपवती !
बूँदी के राव संग जिसकी
सुनता चर्चाएँ रहीं जुड़ी !

"गौरव में बलख-वंश के, इस
परिणय से वृद्धि विशेष नहीं !
आवश्यकता न मुझे उसकी
है प्राप्ति-कामना तनिक नहीं !"

नजवत का गर्वित अट्टहास
कटु, गई तिलमिला, क्षुब्ध हुई !
मेरी स्थिति थी उस हरिणी-सी
जो आखेटक शर-विद्ध रही !

नजवत-सहयोगी ने उसके
कन्धे पर अपना हाथ रखा,
औरंग-बन्धु जाफर खाँ जो
कुटिलाई की सीमा-रेखा !

ऐसा आखेटक सिद्धहस्त
है जिसका लक्ष्य अचूक सदा

दुष्टात्मा का अवतार ? पूर्ण
घातक जिसकी हर एक अदा !

नजवतखाँ को कर सम्बोधन—
"क्या तुमको ज्ञात अमीर, नहीं !
उस अग्निकांड में जली, किसी को
पर, तन छूने दिया नहीं !

"परिचय, परीक्षा और अधिक ?
उस क्षरण में नहीं उजागर है ?
फिर क्या संशय घेरे तुमको
यह कैसा लज्जा का डर है ?

"जो प्राण-हानि सम्मुख अपनी
मर्यादा ऊँची रखे, चले,
ऐसी नारी नित सुलभ नहीं,
मत वृथा गर्व से जाओ छले !

"निज हृदय-द्वार मत बन्द करो
मत शिथिल करो निज यत्नों को !
यदि शाहजादी मिल गई तुम्हें
सौभाग्य-सूर्य अभिनन्दित हो !"

नजवतखाँ ने अवहेला से
प्रत्युत्तर दिया—"नहीं मालूम !
वह नहीं - मात्र मंगोल, तुर्क,
कितने रक्तों का सम्मिश्रण !

"आवश्यकतावश खेल जाय
प्रियहित जीवन पर, प्राणों पर!
यदि उस दिन होता ज्ञात, न रहता
धड़ पर उस प्रेमी का सर !

"मेरे अन्तःपुर की भी सब
रानी हिम-सी पावन, उज्ज्वल!
उनका संयम या सदाचार
स्पृहणीय, सदा ही रहा धवल!"

नजवत को सुनता जाफरखां
था उसे मौन अवलोक रहा,
औरंग था भाई, भारतीय—
संस्कृति से मन में क्षोभ रहा!

कर नजवत का कर-स्पर्श कहा—
"देखो अमीर, यह तनिक सोच;
यदि शत्रु-हाथ से लो निकाल,
होगा न किसी को भी विरोध!

"यह तो फिर निश्चित पूर्णतया
होगा जन्नत ही अन्तःपुर;
यदि बजे तुम्हारे आँगन में
उन मृदुल चरण-युग के नूपुर!"

"नजवतखां का मन अस्थिर था,
देखा जाफर को, चंचल मन,
फिर कहा—"उसे बल से पाया
यदि, होगा तो काफिर दुश्मन!

यदि, मुझको छोड़ जहांनारा
काफिर को ही अपनाएगी,
वह उसे स्वर्ग की हूर समझ
चाहेगा, वह सुख पाएगी!"

नजवत के व्यंगों से विदीर्ण
कुछ पल था मन उन्मन विशेष !
फिर तनिक होश में आ, देखा—
जा चुके छोड़ दुःस्वप्न शेष !

अति बुरी दशा उस क्षण उर की
मस्तक में ज्यों भूडोल उठा !
सहने की सीमा पार हुई
घटनाओं से मन डोल उठा !

धीरे-धीरे से चल कर फिर
महताब बाग में मैं आई ।
रजनीगन्धा ने दे झकोर
खोई चेतनता लौटाई !

कोयल ने पहले से झरने
के निकट व्यवस्था कर दी थी ।
दीपक भी वहाँ सँजोया औ'
थी स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई !

विश्राम हेतु उस पर बैठी
पर मन में कितना गरल घुला !
'नारी-जीवन अभिशाप महा'—
मुख से यह् अनायास निकला !

पीड़ा का भार कुचलता उर,
मन हुआ करूँ यदि चीत्कार !
साम्राज्य पूर्ण हिल जाएगा,
सबको होगा विस्मय अपार !

नारी सतीत्व की रक्षा-हित
बन्दी रखने की अभिलाषा

स्वच्छन्द भ्रमर-रस-पान करे
हर कली अछूती प्रत्याशा !

नारी केवल उपभोग वस्तु
उसके अन्तर का दाह मूक !
पीकर ठुकराए जाने को
लुढ़का पद तल में पात्र शुष्क !

नर की इच्छा, आकांक्षा की
पुतली-सी ही यदि नाच रही
उसकी सत्ता का मूल्य शून्य
वह केवल गुड़िया, काँच रही !

उसके सतीत्व का मूल्य न कुछ
केवल नर की मर्यादा है !
अपने में सती न असती है,
वह तो नर से ही ज्ञाता है !

नर ही नारी की माप रहा
नर-गौरव संग उत्थान - पतन
उसका अपना व्यक्तित्व न कुछ
नर को सहना—उसका उद्यम !

भ्रष्टा नारी का आलोचक
कटु, सदा भूल नर जाता है;
दायित्व उसी के ऊपर ही,
खुद ही तो उसे गिराता है !

दायित्वहीन, बन स्वयं शुद्ध,
पर-छिद्रान्वेषण को उत्सुक!
जड़ आदर्शों को सेता है,
कहता वह कुछ, करता है कुछ !

यह सत्य—दुलेरा को मैंने
है स्नेह किया—करती भी हूँ।
है तनिक न उसकी लाज मुझे,
अनुताप, न मैं डरती ही हूँ!

यदि तुम खजूर के वृक्ष तुंग
वह मधुछायामय है रसाल;
प्राणों के पिक का नित्याश्रय
विश्रब्ध कूजता बैठ डाल!

तुम शिकामोर के वृक्ष मात्र
जो पवन-प्रेरणा से चालित।
तुममें चिन्तन मौलिक न रंच
चिर जीर्ण लीक पर प्रतिपालित!

चिन्ताओं से हो क्लान्त, श्रान्त
मैं उस शय्या पर लेट गई,
मिश्रित डोरी मधु-कटु सुधियों
की मुझको कसे लपेट रही!

पावस की काली रही रात!
कितने उजले तारे नभ में!
शीतल सुगन्धमय पवन, चली
कुछ ज्ञात न आँख लगी कब में!

झपकी में ध्यान दुलेरा का
फिर स्मरण पत्र का हो आया !
था जिसमें चित्र माँग मैंने
निज को अपमानित करवाया !

अतिशय शोकाकुल हृदय हुआ!
क्या उनका भी नजवतखाँ-सा
आलोचन - प्रत्यालोचन औ'
व्यवहार, रुक्ष होगी भाषा ?

नभ घूमा, तारे नाच रहे
अम्बर झूमा मेरे ऊपर
बस वज्रघोष-सा ध्यान मात्र !
फिर नहीं होश, कुछ नहीं खबर !

प्रातः होने पर सुना, लोग—
'महताव बाग में विषधर ने
डस लिया जहाँनारा को कल'—
कह रहे—'न झूठ'—गुना मन ने !

⊙ ⊙

घिरते घन

घिरते - घन

(मृत्यु मिले या सिंहासन !)

यहाँ दुर्ग में सावधान रह
भावी अनुक्षण गुनती थी।
ऊँटों, अश्वों और गयन्दों
की पदचापें सुनती थी।

क्या भविष्य पितुपद का होगा ?
कौन विजय का अधिकारी ?
पक्षाघात कर रहा पीड़ित
चलाचली की तैयारी !

शाहजहाँनाबाद महल में
जब सम्राट् अस्वस्थ हुए ;
रात्रिकाल था, पिता निकट
मैं और सुसेवक त्रस्त हुए !

पगतल से धरती सी खिसकी
बेसुधप्राय जनक-मुख देख !
'कभी न इनका साथ तजूँगी'—
ली कुरान छू मैंने टेक !

पिता आज भयभीत अधिक थे,
मुझ तक से भय उन्हें हुआ !
समाचार-तूफान उठाएगा—
यह उनको चेत रहा !

"हस्ततली को वनिक सूँघकर
गन्ध सेव की आती क्या ?"
रोगभीति से त्रासित हो यह
विकल प्रश्न मुझसे पूछा !

राज्यादेश — न रोग-सूचना
राजभवन से बाहर जाय।
पर, निषेध के रहने पर भी
फैल रही, हम थे निरुपाय।

'हैं सम्राट् अस्वस्थ'—सूचना
सभी दिशाओं में गूँजी।
घहराते हों वज्र गगन में
साम्राज्य-सीमा धूजी!

भीतर-भीतर आग जल रही,
यद्यपि ऊपर राख रही!
भ्रातृ-विरोध-रूप में प्रज्वलित
लपट द्रोह की जाग रही!

यद्यपि दारा पूज्य पिता
द्वारा पहले से निर्वाचित।
किन्तु न पुत्रों ने निर्णय को
माना, युद्ध किया घोषित!

पहले शाहशुजा बढ़ आए,
फिर मुराद के संग औरंग,
छोड़ वंग, गुजरात, दकन को—
'मृत्यु मिले या सिंहासन!'

दारा के सुत सुलेमान ने—
शाहशुजा से युद्ध किए

विजय प्राप्त की, इसी काल
सम्राट् रोग से मुक्त हुए!

इधर द्रोह यह पनप रहा था
फैल रहा उसका आतंक!
श्वेत सर्प से सबको भय था,
क्या भविष्य लाएगा रंग?

यह विद्रोह - सूचना हमको
बिलोचपुर में ज्ञात हुई।
लौट रहे सम्राट् आगरा
से दिल्ली, तब प्राप्त हुई!

बिलोचपुर का नाम मुझे
इन दिनों खटकता था बेहद
तीस वर्ष पहले, खुर्रम की
द्रोहभूमि की यह सरहद!

थे युवराज पिता जब, उनने
जहाँगीर से द्रोह किया
अपने सुत अब विद्रोही हैं;
आवर्तित इतिहास नया!

पिता बगल बैठी गाड़ी में
दिन का समय, तीक्ष्ण आतप!
मूक, कोस पर कोस निकलते
घिरे विचारों में हम चुप।

गाड़ी बाबा जहाँगीर की,
रही प्राप्त श्वेतांगों से !
चार अश्व थे जुते हुए
जो बल में न्यून न साँडों से !

देख रही पथ-दृश्य, कहीं
अन्तर न दिखाई देता था !
जीवन के ये दिन न फिरेंगे—
तब यह मुझको ज्ञात न था !

संगमरमर के कूप निकट इक-
हाल सभी का पूछ लिया।
सब अश्वों को स्नान कराया,
भोजन में तरबूज लिया।

किंचित् मदिरा की मात्रा,
फिर से, यात्रा स्वीकार हुई।
घूम पिता ने मुझ को देखा,
लगा—जरा साकार हुई !

सुरापान के चिह्न वस्त्र पर
जगह-जगह दीखे प्रत्यक्ष !
पूर्व-शक्ति सामर्थ्य आदि का
कुछ न शेष जो होता लक्ष्य !

नेत्र-ज्योति अतिशय फीकी थी
तन का ताप हुआ शीतल,
उनकी नीरवता-सा उनका
श्रान्ति-शान्त बुझता हियतल !

मन्द कण्ठस्वर भी वृद्धा-
वस्था का परिचय देता था,

आकम्पित तन-मन की स्थिति में
उसका लय भी मिलता था!

तभी मीरजुमला का प्रश्न
उठाया उनने चर्चा हित।
रहा पारसी, 'खान मुअज्जम'
पद से उसे किया सत्कृत!

जूते का व्यापारी, फिर वह
गोलकुण्डा का हुआ वज़ीर;
रानी को पथ-विपथ, चला
सुलतान कोप का दग्ध समीर!

औरंग से सहायता लेकर
लूटी उसने रजधानी।
इस मिस शक्ति बढ़ाई; हाथ
लगी थी हीरे की खानी।

कोहनूर की हीरकमणि दी;
"ऐसा मूल्यवान पत्थर
नहीं किसी भी राजकोप में
प्राप्य रहा इतना सुन्दर!

यदि सेना की सहायता हो
फिर ऐसे ही कितने रत्न
कर सकता उपलब्ध, सफल
हो पाएँगे मेरे सब यत्न

मुझे न था विश्वास, पिता को
कितनी बार सतर्क किया।
सैन्य-सहाय भूल है देना—
बहुत विरोध, वितर्क किया

मैंने, दारा भाई ने भी
कहा-'बुलालें औरंग को'
उस सम्पत्ति और सेना से
सुगठ हुए विद्रोही दो।

माँ की तरह, पिता पहले सब
मेरी बात मानते थे।
शनैः शनैः कुछ दूर खिचे वह
यद्यपि मूल्य जानते थे!

मैंने निर्णय लिया, मुझे फिर
पाना है उन पर अधिकार!
याद दिलाया मीरबख्श से
औरंग का चर्चा-व्यवहार!

"जिस धन से मुक्ता क्रय करते,
सैनिक शक्ति बढ़ाओ तुम।
सेना के बल जितने चाहो,
उतने मुक्ता पाओ तुम!"

इस चर्चा का औरंग पर था
पड़ा प्रभाव अवश्य विशेष!
सूरत पर अधिकार जमाया
शक्ति बढ़ाता रहा अशेष!

तभी पिताने मुझको देखा
वत्सलता थी छलक रही।
मुझे याद आई बचपन की,
चितवन में वह झलक रही!

और कहा-"क्या भूल गईं तुम,
कितनी बार किया आग्रह।

क्षमा करूँ औरंगजेब को
जब भी कभी हुआ विग्रह !"

कर मेरे मस्तक पर रक्खा
(ताप-तप्त कुछ अधिक लगा !)
और-प्रसंग चल रहा था जो,
उसका ही क्रम पुनः चला !

"तुम्हे न स्मरण, जहाँनारा यह
कितनी बार सतर्क किया—
उसका तुम विश्वास न करना !
किन्तु भाग्य ही बली रहा !

"सर्प दूर से आकर्षक हो
निकट वही विष ही मिलता
होनहार होकर रहती है
विधि का लेख नहीं मिटता !

"जन्मकाल दारा के मस्तक
थी अभाग्यसूचक रेखा;
औरंग की सौभाग्यसूचिका,
अमिटप्राय विधि का लेखा"

सुना पिता का कथन ध्यान से
कम्पित कमल-पाणि चूमा,
सोच रही थी बीती बातें
जिन्हें स्मरण कर सिर घूमा !

मुझे और दारा को झूठी-
सच्ची बातें पत्र लिखे !
पुनः पुनः पाकर प्रतारणा
बार - बार हम गए ठगे !

आया याद, पक्ष उसका ले
कितनी बार पिता के पास
कर अनुरोध क्षमा दिलवाई;
वह तत्पर अब करने नाश!

बात पिता की सुन, अतीत को
गुन, मन में जो उठे विचार!
विविध कल्पनाएँ कर उर में
भय का हुआ अधिक संचार!

अब मुझ को, वह गोरा मुख
काली आँखें हरदम दिखतीं,
चलते-फिरते, सोते-जगते
सपने में पीछा करतीं!

बहुत दिनों की बात पुरानी,
दारा ने बनवाया एक
महल आगरा में, आमंत्रित
सब सम्बन्धी किए गए

बना एक नहखाना उसमें
जिसमें द्वार एक ही था
पिता, बन्धु सब ही प्रविष्ट थे
कहीं न आशंका-कण था!

सभी कला को देख-देख कर
अतिथि प्रसन्न सराह रहे!

औरंगजेब द्वार पर बैठे
बहुत बुलाया, पर न गए!

दुखी, क्षुब्ध भी पिता बहुत थे
ऐसी ओछी हरकत पर
राजकीय अधिकार छीन कर
प्रकट किया यों क्रोध प्रखर!

"क्यों ऐसा व्यवहार तुम्हारा"—
मैंने ही पूछा जाकर!
"सबको वन्दी कर दारा
सम्राट् बने न"—यही उत्तर!

चिन्तन की यह दिशा देखकर
मन में उपजा भाव तभी,
अवसर आने पर अवश्य
औरंग करेंगे काम यही!

रोशनआरा मात्र बचेगी
होंगे शेष सभी वन्दी!
समझा-बूझा पिता को उसकी
खोई सूबेदारी दी!

सच ही रोशन उसके सारे
क्रिया-कलापों की आधार!
चलता रहता अविरत उनमें
कूटनीतिमय पत्राचार!

गूढ रहस्य ज्ञात करने में
प्रतिभा उसकी सूक्ष्म सदा;
नारी होने के कारण फिर
रहती थी विशेष सुविधा !

पुरुष-दृष्टि बाहर दीवारों
से टकरा रह जाती है !
अन्तःपुर में सहज भाव से
समाचार सब पाती वह ।

रोशन और दासियां उसकी
गति निर्बाध विचरती थीं
औरंग को सारे रहस्य वह
प्रेषित करती रहती थीं !

अमीनखां, शाइस्ता ने
औरंग-मुराद को पत्र लिखा
"दर्शन देते सम्राट्, निकट
पर अन्त, नहीं इसमें शंका !

"सुलेमान बंगाल रवाना
शुजा साथ करने संगर
उसके आने से पहले सेना ले
आओ, आवश्यक"

पत्र पड़ा दारा के हाथों,
बन्दी किए गए थे वह;
मुक्ति हेतु रोशन आया तब
आई थी करने आग्रह !

दारा कोमल हृदय सदा के
छोड़े बन्दी उसी दिवस !
इसी मुक्ति के साथ पतन का
अपने मार्ग खुला था बस !

दिल्ली द्वार मध्य से निकला
अश्वारोही दल सज्जित
पार हमारे पथ को करता,
रही देखती यह अघटित

पिता सहित जा रही जुमा
मसजिद निज निर्मित,संग निजदल
तीव्र इत्र की गन्ध पवन में
रोशन के भी संग दल-बल !

रोशन की शिविका जाली के
सूक्ष्म वसन से थी आवृत
मोरपंख का स्वर्ण व्यजन
था युवा क्रीत-सेवक-चालित !

दृश्य असाधारण था इतना
होन सका किंचित् विस्मृत !
इस क्षण ही कुछ आकुलता-सी
नव शंका से मन विचलित !

जब से रुग्ण पिता, षड्यन्त्रों
की घिरती आती जाली,

तब से ग्रह नक्षत्र फिरे
दुर्दिन की उठी घटा काली !

रोशनआरा ने शिविका के
भीतर से हमको देखा
मै भी घूमी, उसके दर्पित
मुख-मण्डल को अवलोका !

तभी पिता से सुना—वृक्ष
जितने मुझ से अंकुरित हुए।
उनमें से सबने ही मुझको
नहीं सुखद फल-फूल दिए !"

उद्भासित हो उठा उसी क्षण
दो खेमों का संघर्षण !
स्पष्ट पृथक् थी राह हमारी
मिलन-बिन्दु केवल वंचन !



विद्युत्-रेख

विद्युत्-रेख

(शान्त भूमि की ली झाँकी)

अकबर की सीकरी यहाँ है
रही फूल-सी खिली कभी
सलीम चिश्ती की सुस्मृति की
कीर्ति-चिह्न बन खड़ी हुई !

जहाँगीर बाबा, चिश्ती की
आशी के ही सुफल रहे;
यह विश्वास जनक के मन में;
बसा सीकरी, उऋण हुए !

नई राजधानी शानी थी
सुन्दर पावन तीर्थ हुई ।
धर्म और ऐश्वर्य-गढ़ी यह
अति समृद्ध, प्रसिद्ध हुई !

तीन ओर दीवार खिची थीं,
चौथी ओर झील सुन्दर ;
दीवारों में द्वार बने नौ,
भीतर विविध महल मन्दिर ।

सीमा बाहर जामा मसजिद
द्वार भव्य जिसका था अति
कहलाता बुलन्द दरवाजा,
देख सभी होते विस्मित !

मसजिद में सलीम चिश्ती की
संगमरमर की शुभ्र समाधि;
महापुरुष को महापुरुष की
श्रद्धांजलि से पावन याद !

विविध धर्म स्वर्णिम-चित्रों की
श्रेणि-सुशोभित था प्रासाद;
राम, कृष्ण, ईसा मरियम के
अंकित गौरवमय व्यापार !

अबुलफजल, फैजी, बदायुनी—
जिनकी कथा बनी इतिहास
तानसेन के भवन वहीं हैं
सबकी स्मृतियाँ ही हैं आज !

दोनों भाई वेदान्ती थे
किन्तु धर्म उनका इसलाम;
अतिशय ही उदार चेता थे
नृप पर गहरा रहा प्रभाव।

बदायुनी कट्टर धार्मिक अति
भ्रात-युगल का शत्रु हुआ।
पदच्युत नृप से हुआ, तदपि
फैजी ने उसका पक्ष लिया !

तानसेन, बैजू गायक थे
जिन्हें मिला अद्भुत सम्मान
रामदास बाबा के बेटे,
सूरदास भी रहे महान !

अबुलफ़ज़ल विद्वान अनोखे
उनके घातक हुए सलीम
शोकमग्न सम्राट् विकल अति
रहे दिनों तक क्षीण, मलिन !

कब तक ऐसे दुखद दृश्य
मानव धरती पर सिरजेगा ?
मानव ही मानव का रिपु हो
कब विधान यह बदलेगा !

धरती यह कितनी सुन्दर है
यहीं स्वर्ग की सुन्दरता !
वह तो सबको देती सब
नर अति लोलुप, ईर्ष्या करता !

एक दूसरे को न सह सके
छीना-झपटी नोच-खसोट
मचा, नारकी दृश्य उपस्थित
हुआ, नहीं फिर भी सन्तोष !

हम ही ठीक और सब मिथ्या—
कितना बड़ा दम्भ, अभिमान !
शक्ति-सन्तुलन खो बनता है
आक्रामक, अथवा आक्रान्त !

वृहद् विश्व को अपनी खिड़की
से ही प्रति नर देख रहा;
सारे दृश्य सत्य हैं खण्डित
नहीं परस्पर मेल रहा !

यह अमेल—द्रष्टा की सीमा
पूर्ण इकाई—अन्तिम सत्य !
भिन्न धर्म भी विविध राह ही
विभु, विराट सत्ता ही लक्ष्य !

महासत्य यह महापिता ने
बचपन से ही जान लिया ;
माता शिया, पिता सुन्नी थे
हिन्दू घर में जन्म लिया ।

बैरम खां, अब्दुललतीफ का
धर्म-प्रभाव उदार बना,
बीस वर्ष की आयु पहुँचते
कटु विषाद हो गया घना !

राजनीति औ' धर्म-समन्वय
किसी भाँति हो—लक्ष्य रहा !
'सारे बन्दी ग्रहण करें इसलाम'
नियम यह बन्द किया !

समय साथ मन की आकुलता
गहरी होती जाती थी
कुछ आध्यात्मिक समाधान-
जिज्ञासा बढ़ती जाती थी !

तीर्थ-स्थानों का यात्री कर औ'
फिर जज़िया भी बन्द किया;
वृहद् इबादतखाना खोला
चर्चा-हित दिन नियत किया !

मानवैक्य का महास्वप्न
आजीवन मानस-नयनों में

छाया रहा, और चेष्टा भी
यही रही, यह सत्य बने !

सुन्नी, सूफी, शिया मतों से
समाधान, सन्तोष नहीं !
हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई
सभी मतों की खोज रही !

जीवन भर की इन खोजों से
यह निष्कर्ष मिला निश्चित;
सब धर्मों में सत्य अवस्थित,
नहीं किसी की निज सम्पत्ति !

मुक्त विचारक सब धर्मों में
सत्य परायण होते हैं !
उनसे ही धर्मों का गौरव
और स्वयं भी बढ़ते हैं !

तर्क मान आधार धर्म का
'एकेश्वर' का किया विधान,
सब धर्मों का सार-अंश ले
'दीन इलाही' का निर्माण !

सार्वजनिन सहिष्णु भाव से
प्रेरित यह मत नया उदार,
मानवमात्र परस्पर आवें
निकट, यही था प्रमुख विचार!

'हीर विजय', 'जिन चन्द्र सूरि' -
जैनाचार्यों का मान किया
उनको मान 'जगद्गुरु' इनको
'युग प्रधान' सम्मान दिया !

शोक मनाया—घटनाओं से
लक्षित होता चिन्तन-स्तर।

प्रतिदिन प्रातः प्रजाजनों को
खिड़की से दर्शन देना—
हिन्दू राजों का विधान था,
स्वीकृत किया ग्रहण करना!

भारतीय संस्कृति के प्रेमी
देशवासियों से मिल कर,
पिता-पुत्र सम्बन्ध भाव से
बने प्रजा के सहज जनक!

यही सीकरी है अकबर की
कभी वधू-सी सजी रही;
पशुओं, भिक्षुक-गण की बस्ती
से ही अब यह बसी हुई!

सिकरी की सीमा से लेकर
नगर आगरा तक, बाज़ार!
नित्य लगा रहता था मेला
आज बसा है वहाँ उजाड़!

राजद्वार से जुम्मा मसजिद
में ज्योंही मैं हुई प्रविष्ट।
दीनइलाही मत का कोई
पोषक वहाँ न था अवशिष्ट!

पुण्य समाधिक्षेत्र की यात्री
आज रही मैं एकाकी
मस्तक अवनत कर,सिजदा कर
शान्त भूमि की ली झाँकी !

अधरों में थी मूक प्रार्थना—
प्रभु, पृथ्वी का सुख आनन्द
नष्ट हुआ जो, कर एकत्रित
सृष्टि- सुखमयी रचो अखण्ड

सहसा पगध्वनि पड़ी सुनाई,
भ्रम ने ही क्या हृदय छला !
क्रमशः निकट आ रही, उठकर
देखा, त्यों ही द्वार खुला !

उस प्रकाश में वीर-वेश में
राखीबन्धु खड़े देखे !
विस्मय से अभिभूत हृदय ले
जड़वत् दोनों खड़े रहे !

मुखावरण को हटा, बंधु के
नेत्रों को अपलक देखा
स्पष्ट उसी क्षण हुआ—न
उनका पत्र रहा जो मिला लिखा!

मुख आवृत कर निकला मुख से—
ओ, मेरे प्रिय राखीबन्धु !

मस्तक पर रख हाथ, उठा फिर
किया उन्होंने अभिनन्दन !

कर का कम्पन छिपा न मुझसे
जिन्हे वक्ष पर रखे रहे,
बिछी दरी पर उन्हें बिठाया,
कुछ क्षण दोनों मौन रहे !

घातक स्थितियाँ सूचित करती,
उनके जो उपाय सोचे;
राजनीति-चर्चा-हित वह स्थल
छोड़ सौध में हम पहुँचे !

जिन पत्रों से भ्रम उपजा
उनकी जिज्ञासा तीव्र मुझे;
सब औरंगजेबी-प्रतारणा
रही, स्पष्ट यह किया मुझे !

कैसे पृथक् हुए औरंग से,
उसके षड्यन्त्रों के जाल,
ज्यों मुराद भाई को भड़का
चलीं भयानक घातक चाल !



साक्षी

(तभी सहस्र देवदूतों ने एक साथ ही नाम लिया !)

सूचित मैंने किया बन्धु को
(उनको भी यह ज्ञात रहा !)
शान्ति व्यवस्था को लाने का
यत्न हमारा विफल हुआ !

पत्र लिखा औरंग को मैंने—
"स्वस्थ हुए हैं अब सम्राट् !
पितृ-राज-विद्रोह बनेगा
अब भविष्य का रण-विभ्राट्!"

फल उसका न निकलने को था
हमें भली विधि ज्ञात रहा।
तत्परता सब पक्षों की थी
विकट काल वह निकट रहा!

इस भारत में कभी हुआ था
अति भीषण भरतों का युद्ध
फिर तैयार भूमिका वैसी
अनुभव करता क्यों न प्रबुद्ध !

बंधु लड़े थे उस 'भारत' में
बंधु युद्धरत इसमें भी ;
प्रान्त-प्रान्त से वीर जुड़े है
बँटे हुए दो दल अब भी !"

राजसिंहासन को पाने को
बन्धु, बान्धव, गुरुजन-घात ,
धर्म-अधर्म न कुछ गिनती में
अन्धकार का नहीं प्रभात !

युद्ध बिना सूई न किसी को
मन में ऐसा कठिन विचार
सिंहासन तक—लक्ष्य—पहुँचना
रुधिर सरित को करके पार

सब भाई दारा से करते
घृणा—उसे न समझ पाए।
सच्चा धर्म-समर्थक कैसे
धर्म-द्वेष को अपनाए !

दारा 'काफ़िर', 'धर्म-विरोधी'—
कह औरंग ने भड़काया;
राज्य-प्रलोभन दे मुराद को
सन्तपना निज दिखलाया !

पत्र लिखा जो औरंग ने
मुराद को अपने वश करने
सेनाध्यक्षों को मुराद ने
दिखलाया प्रतीति देने ।

उसकी प्रतिलिपि देख, कुमारी,
तुमसे मिलने को आतुर !

छल-प्रतारण-चक्र देख था
ग्लानि-व्यथा से अन्तर क्षुब्ध !

मेरी पीड़ा, लज्जा के
भावों को प्रिय ने पहचाना ;
सर्वस्वार्पण का प्रण लेकर
मुझ को आश्वासित जाना !

"प्रेम, आन के लिए राजपूतों
ने नित बलिदान दिए;
राज्य और जीवन तक त्यागा,
मोह-पाश में नहीं बँधे !

"सम्राटी-सेना, मुराद-
औरंग का धरमत-युद्ध हुआ।
नृप जसवंतसिंह नायक थे
अतः वहाँ मैं नहीं रहा !

मुसलमान शाही सैनिक
धरमत में रिपु के पक्ष मिले,
कोई नहीं उपाय — देखकर
राजा जस जोधपुर गए !

सुन—रानी ने नगर-द्वार
करवाए बन्द, भेज सन्देश—
"जय न मिले पर मर सकता है
असली राजपूत रणक्षेत्र !"

रानी की यह चर्चा सुनकर
मन गौरव से फूल उठा!
यह थी उनकी भी यशोगाथा
उनको भी यह गर्व रहा!

भारी वातावरण हुआ था
द्वार पर जैसे निशा घनी
तभी बन्धु की सहसा साग्रह
विनती-वाणी मधुर सुनी!

"कुल-पट टूटा, कुमारी, अपने
प्रिय स्वरूप की झाँकी दो
गिरें समर-भू में यदि, मेरे
सम्मुख यह छवि बाकी हो!

"नर करते शासन पृथ्वी का,
पुरुष-शक्ति सर्जन करती
वह ही उसे ध्वंस करती है
आप आपको है दहती!

"पुरुष-शक्ति की नियंत्रिता है,
नारी-शक्ति जिसे कहते!
उसके ही अंकुश में नर-गज
होते अभय, प्रबल झुकते!

"मंत्र रिझाता है विषधर को,
विनय भुलाता है पशु-बल
विध्वंसक, उद्दण्ड पुरुष भी
झुक जाता पा स्नेह तरल!



"एक स्वप्न हमने देखा था
पहले, जब मैं युवा रहा !
स्वप्नों पर विश्वास बहुत था
मन भावों में रमा हुआ !

"किन्तु ज्ञात अब—दिवालोक में
निशा-स्वप्न खो जाते हैं !
निद्रा की अस्थाई छाया
में ही वह पल पाते हैं !

"मेरे जीवन की प्राणेश्वरि,
नृपात्मजे, यह सत्य कहा !
राजकुमारी, अरी प्रियतमे,
तुममें मेरा विश्व रहा !"



गहरी श्वास साथ ही निकली,
अवगुण्ठन को हटा दिया !
लगा कि उस क्षण ने ही जैसे
सारा जीवन समा लिया !

जाना जब—अगले प्रातः तक
फतहपुरी में ठहरूँगी,
यद्यपि निर्णय रहा न वांछित
स्थितियाँ सारी भीषण थीं !

मृत्यु क्षेत्र में मिले—'धर्म का
पालन हुआ'—समझता है !

"सत्यान्वेषक कहते—जीवन
तुहिन-बिन्दु-सा अस्थाई !
कायर मरता बार-बार, मर
वीर-कीर्ति होती स्थाई !

"सागर-ओर नदी धावित है,
मानव-जीवन भी अनुक्षण
जीवन-सीमा लांघ, सृष्टि का
अंगभूत होता क्षण-क्षण !"

पक्ष-विपक्षी सेनाध्यक्षों
की चर्चा जब चली, तभी
नजवतखां का नाम सुना
औ' भ्रू-रेखाएँ पड़ीं कड़ी !

पुनः प्रसंग उन्हीं पत्रों का
रण-चर्चा में दोहराया,
कितने भ्रम, संशय, शंकाओं
में भटका मन, बतलाया !

कहा—"सूचना नहीं मिली जब,
लगा—भुलाया है तुमने !
स्मृति में नित साकार, कल्पना
के चंचल पट पर झीने !

"वही स्वप्न थे, दिवा स्वप्न थे,
तुमसे जिनको भरे रहा !
छलना-सी आती चल जातीं
मैं द्रष्टा-सा परे रहा !

"इतने दिन तुम स्वप्न रही हो,
आज सत्य हो अथवा छल !
नहीं प्रतीति हृदय को होती
शंकित, अविश्वस्त, चंचल !

"आज पार्श्व में, नयन सफल है,
कितने दिन तुम दूर रही !
स्नेहमयी वाणी को सुनकर
सभी भीतियाँ भूल गई !

"तुम सम्मुख हो,तुम स्वकीय हो
नहीं कहीं बाधा लगती !
भाग्य छोड़ अब और न कोई
शक्ति बीच में आ सकती !"

अपलक सुनती वचन, रोम सब
नयन हुए या कान हुए !
मूर्तिमती-सी देख रही, वह
उठे अचानक, चले गए !

कोयल के लाए फूलों से
मैंने माला थी गूँथी !
मेरा उर भी बिंधा साथ में
बना चमेली या यूथी !

पहले भी तो ऐसी माला
कभी बनाई, युग बीता !
रात दूर, वह गगन दूर
पर भाव वही तद्वत् जीता !

स्वप्न-चलित-सी जैसे अब तक
आई हूँ अनुक्षण जीती,
मद की लहरी में तिरती-सी
अपनेपन को भी खोती !

रण में जाने से पहले क्या
मिल न सकेंगे प्रियतम भोर ?
शयन-द्वार सम्मुख सोई थी
कोयल, द्वार एक था और !

कैसे उनका द्वार, पहुँच कर
खोला, मुझको ज्ञात नहीं !
पगड़ी रहित सौम्य मुखमण्डल
कब तक हेरा — याद नहीं !

क्या अनुभूति हुई थी मुझको,
नहीं ध्यान अब, बैठे पास;
पगध्वनि सुनी तभी निद्रा में
दीर्घ उन्होंने ली निःश्वास !

सम्मोहन से जगी, उठी
धीमे पग रख, वापिस आई
माला छूटी वहीं प्रिय निकट
आने पर ही सुधि आई !

प्रातः पूछा, जब कोयल से—
राखीबन्धु- कहाँ हैं अब ?

ज्ञात हुआ — प्रातः वेला में
सैन्य संग वह गये निकल ।

चढ़ता हो तूफान सिंधु में,
नौका में हलचल मचती,
वैसा ही आगरा हुआ था
सब विक्षिप्त, रहे चिन्तित !

कितनी जन-श्रुतियां फैली थी
सबमें ही आतंक भरा;
जीते हैं उज्जैन युद्ध
औरंग-मुराद, हारे दारा !

पत्र मिला फिर छत्रसाल का,
साग्रह—पत्र लिखूं उनको,
स्मृति स्वरूप वह पास रखेंगे !
मन में सुख की उठी हिलोर !

तुच्छ, अकिंचन इस जीवन का
उनके निकट महत्त्व हुआ !
जीवन का सम्मान — प्रदाता
उनका यह अनुरोध रहा !

गई पिता के पास पुनः
कितने निरीह वह ज्ञात हुए,
एकाकी असहायप्राय वह
मुद्रा से प्रतिभात हुए ।

यौवन में भी इसी रूप में
मैंने उनको देखा था।
माँ जब नहीं रही थीं, उनका
यही भाव अवलोका था!

करुणाप्लावित उर हो आया,
फतहपुरी का फूल दिया
लघु उपहार उस समय उनने
अमृतफल-सा ग्रहण किया!

कृतज्ञता से दीप्त मुखाकृति
क्षण में पुनः मलिन श्रीहत
सुलेमान, राजा जयसिंह संग
गए, अतः था मन कुण्ठित!

गई वहाँ से ताजमहल, को
लगा एक ध्वनि वहाँ हुई
"मेरी ही तुम सब सन्तति हो,
फिर विडम्बना यह कैसी?

"सबमें मेरा, रक्त-प्राण, फिर
क्यों विनाश की तैयारी?"
कंम्पित हृदय हुआ विचलित
झर-झर झरते आँसू खारी!

माँ की स्मृति साकार हुई
मैं आगे बढ़ती ही आई!
पीछे से चिर-परिचित पग-
ध्वनि मेरे सुनने में आई!

देखा पीछे घूम, शुभ्र
परिधान-सुसज्जित बन्धु वहाँ!

अभिवादन में देखा—
मुक्ताहार बँधा पगड़ी में था !

हम दोनों की पूर्ण चिन्तना
एक दिशा में धावित थी।
खलिलुल्लाखाँ की प्रवृत्ति
रह-रह शंका उपजाती थी।

दारा नहीं दूरदर्शी, यदि
उसकी बातों में आए
तो अनर्थ ! उससे सतर्क
रहना आवश्यक है उपाय !

नजवतखाँ का भी प्रसंग
इस चर्चा में ज्यों ही आया,
क्रोधावेश स्पष्ट लक्षित था
रक्तिम थी मुख की आभा !

"शत्रुपक्ष में सर्वप्रथम
नजवतखाँ का हो जाए अन्त
दाह मिटे, ले सकूँ साँस फिर
जिससे, मैं होकर निश्चिन्त !

"क्यों ?" मुख से सहसा ही निकला,
"करता हूँ मैं उसे घृणा !"
मैं अवाक् थी, तब ही आई
स्मरण सीकरी की घटना !

नहीं जानती, नजवतखाँ के
बारे में क्या रहा सुना !
कभी न मुझ पर उसकी छाया
रही न मैंने उसे चुना !

विजय पा, दारा
समेत !
िर-मंदिर
अभेद !

गम्भीर कहा प्रिय ने फिर—
ी निराशा चाह रहा !
न सफल हो जीवन-यात्रा
र-मिलन ही प्राप्य रहा !"

। ७



मुख से पट को हटा दिया
वह स्वयं देख निश्चित करले !
नजवंत की छाया भी उर
छू सकी नहीं, मन में धरलें !

पूर्ण दृष्टि से देखा मुझको,
भावभरी चितवन, न कभी
इस जीवन में भूल सकेगी !
रोम-रोम में स्मृति भरी !

"गुम्वद भीतर साथ चलेंगे ?"—
पूछा मैंने उन्हें तभी,
साथ हो लिए, माँ साक्षी थीं
दोनों के अन्तर्मन की !

"मुख से कुछ प्रिय वचन कहें
जिसका प्रत्युत्तर प्रतिध्वनि दे !"
"नाम जहाँनारा" की जग में
सर्वकाल में कीर्ति रहे !"

तभी सहस्र देवदूतों ने
एक साथ ही नाम लिया;
ध्वनि, प्रतिध्वनि, प्रति-प्रति-प्रति-
ध्वनि में गुंजित हुआ 'जहाँनारा' !

गुम्वज के नीचे की वार्ता–
अंकन- में लेखनी विफल
उस क्षण की वेसुधी आज के
खंडित जीवन का सम्वल !

निश्चय किया—विजय पा, दारा
लौटेंगे यदि बन्धु समेत !
हिम-शिखरों के मंदिर-मंदिर
घूमेंगे हम युगल अभेद !

हो गम्भीर कहा प्रिय ने फिर—
"नहीं निराशा चाह रहा !
यदि न सफल हो जीवन-यात्रा
अमर-मिलन ही प्राप्य रहा !"



अन्धकार

अन्धकार

(दूर, दूर, अति दूर जा रही…)

इस प्रभात में भीषण हलचल
मची शान्ति-सुख को दलती
जहां-तहां थे सैन्य-शिविर बहु
रात - दिवस सेना चलती ।

विदा समय जामा मसजिद में
एकत्रित हो पढ़ी नमाज़
कम्पित आशी-पाणी उठाकर
बोले पिता—'खुदा हाफिज़'!

'फतहजंग' दारा की हथिनी
पर्वत-सी ऊँची दिखती
राजपूत अश्वारोही
सेना से घिरी पृथक् दिपती !

सीसोदिया, गौड़, हाड़ा
राठौर आदि सब राजपूत
नेतृत्व कर रहे छत्रसाल
संग में थे भाई, बन्धु, पुत्र !

देख-देख तन रोमांचित था
कितना अद्भुत दृश्य रहा !
छत्रसाल की वीर मूर्ति को
भी नयनों ने खोज लिया !

दूर, जहाँ तक पहुँच दृष्टि की
सेनाएँ चलतीं दिखतीं
आगे बढ़तीं, निज पदरज के
धूम-आवरण में ढकतीं !

धीरे-धीरे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर,
नयन-क्षितिज से फिर ओझल;
रह न सकी स्थिर, गई पिता के
निकट, मची मन में हलचल !

पिता विकल थे कितने, मुझसे
छिपी न थी कोई भी बात;
धैर्य परस्पर दे सकने का
साधन न था हमारे पास !

दोहराए इतिहास पुरातन,
रुकते इसी बिन्दु पर माँ;
मुग़ल वंश की राज्यारोहण-
परम्परा भीषण इतिहास !

घटना-स्रोत तीव्र गति पर था
क्षण-क्षण स्थिति परिवर्तित थी,
बढ़ते व्याधि पिता को भाई
निज छाया भी छलती-सी !

[illegible] विद्रोही [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] मन [illegible] !

[illegible]
[illegible]

केवल उन्हें पिता की लज्जा
थी, अन्तर औरंग-उन्मुख !

मिर्जा राजा जयसिंह यद्यपि
विश्वासी सामन्त रहे
दारा ने पर एक बार जो
उनको मार्मिक वचन कहे !

शोधभावना उनके मन में
इस प्रसंग को ले उभरे
तो आश्चर्य नहीं, था मन
आकम्पित इस आशंका से !

सुनने में आया—मुराद-
औरंग की सेनाएँ बढ़तीं
पिता रोकते रहे, किन्तु
दारा न रुके, की थी जल्दी !

सुलेमान के साथ रही जो
सेना, रण में शिक्षित थी;
दारा की सेना कितने ही
नए सैनिकों की भरती !

लड़ने की अपेक्षा जिनको
पीठ दिखाना आता है !
मौका पा, कर लूटपाट,
फिर जान बचाना आता है !

चम्बल-तट पर गए, प्रतीक्षा
नहीं सुलेमान की की !
एक सेतु ओरछा राज्य का
रहा अरक्षित बिल्कुल ही !

राजा चम्पतराय निकलने
देंगे अरि को इधर नहीं,
यद्यपि प्रतिश्रुत हुए, किंतु
यह शंका की ही बात रही !

यही हुआ भी, औरंग ने
राजा चम्पत को ले विश्वास
पार किया चम्बल को, स्थिति
बदली, जैसा था पूर्वाभास !

सेना थकी हुई औरंग की
शीघ्र विजित हो सकती थी,
दारा के विश्वासघातियों
अध्यक्षों ने मति बदली ।

ज्योतिष का आश्रय ले, 'शुभ
घटिका यह नहीं'—छला, कर पंगु;
दो दिन अवसर व्यर्थ किए,
उत्साह सैनिकों का था भंग !

"लौट आगरा सुलेमान की
करो प्रतीक्षा"—पत्र लिखा ।
"तीन दिनों में औरंग औ'
मुराद को प्रस्तुत कर दूँगा !"

रुस्तमखां का परामर्श—
'करने दो अरि को ही आघात
सैनिक-शक्ति प्रवल है अपनी,
निश्चित शत्रु खाएगा मात !

राजपूत दल ने 'कायर' कह
सबने ही अपमान किया,
स्वाभिभक्त रुस्तमखाँ का मत
ठुकराया कह भला-बुरा !

क्षण-क्षण में सम्वाद आ रहे
होता पर विश्वास नहीं !
रात्रि घनी होती जाती थी,
तभी सुनी टापों की ध्वनि !

आँधी-सी चलती सेना की
क्रमशः ध्वनि आ रही निकट
दुर्ग-द्वार तक पहुँची फिर वह
बाहर जैसे गई ठिठक !

'शत्रु दुर्ग में आकर, बन्दी
करें न ! दारा बाहर ही
ठहरे अपने राज-सौध में
पुनः पिता से मिले नहीं !

इच्छा के विपरीत गए थे–
यह लज्जा ही घनी रही
"अपने भाग्य छोड़दो मुझको,
मुख दिखलाने योग्य नहीं !"

दारा का वह दूत पिता को
समाचार जब सुना रहा,
मुझ पर उसकी दृष्टि रुक रही
कुछ कहना ज्यों चाह रहा !

सांस रोक सुन रही, हृदय-गति
क्रम से स्थिर, फिर होती तीव्र।
मन में थी तूफान दबाए,
फूट पड़े ना अन्तर चीर !

सावधानता, साहस, धीरज
की करता ज्यों प्रत्याशा
स्वय रक्त से वह रंजित था
कहता-कहता हांफ रहा !

"रुस्तमखां सुलतान मोहम्मद,
छत्रसाल नजवतखां से
करते हुए युद्ध अति भीषण
शौर्य दिखा निज, निहत हुए !

धरा, वस्तु सब लगी घूमती
छत गिरती हो ऐसा भान !
कहीं अचानक वज्र गिरा क्या ?
गया चीरता उर बेजान !

धूमिल कक्ष हुआ सहसा ही
सब प्रकाश ही मंद हुए,
बदला सब कुछ लगा एकदम
फीके सारे रंग हुए !

हृद्गति सहसा ही रुकती-सी
नयन हुए जैसे पाषाण,
गिरे वक्ष पर ज्वलित विन्दु कुछ
और न मुझको कुछ भी ज्ञान !

आशा-अभिलाषा समाप्त सब
श्वासोच्छ्वास रहे गतिशील

कठिन प्राण का अन्त न आया
ठुकी हृदय में जैसे कील !

प्रश्न अनेक पिता ने पूछे
उसका यह ही था उत्तर
खलिलुल्लाखाँ अगर चाहते
तो होता परिणाम अपर !

रुस्तमखाँ औ राव निहत थे,
उन्हें न थी, प्राणों की प्रीति !
चकचौंध कर अरि-सेना में
सब पाए वीरों की गति !

छत्रसाल का सुत भारतसिंह
भाई मोहकमसिंह तथा
भाई के दो पुत्र युद्ध में
आए काम वीर-गति पा !

दारा रिपुओं से घिरने पर
गज से उतर, अश्व-आसीन
गज को खाली देख, पक्ष में
मची खलभली, भागी सैन्य !

पकड़ अश्व-वल्गा दासों ने
समर-क्षेत्र से उन्हें निकाल
किया आगरा पथ पर उन्मुख
चिलचिल धूप, चले तत्काल !

सिपरशिकोह हो रहा बेदम
स्वामिभक्त सेवक, सुत संग
भगे आगरा प्राण बचाकर
मति-गति विकल हुई यो पंगु !

सम्वादों को सुनते-सुनते
उठ आई अपने प्रासाद
कोयल सँग बूँदी का चर था
चाह रहा मुझसे साक्षात् !

हाड़ा छत्रसाल का सैनिक;
मिलने को है अति उत्सुक
अन्य किसी को नहीं चाहता
मुझसे ही कहना है कुछ !

कोयल को देखा मैंने, स्वर
उसका था निर्बल, भयभीत
क्षण भर सोच दिया आदेश,
कक्ष के हों सब दीप प्रदीप्त !

अश्वारोही अन्धकार से
निकल पार्श्व में खड़ा हुआ।
पहले देखा उसे सीकरी में
मुझको यह स्मरण हुआ ।

कितने घाव लगे तन पर
वह जानु टेक बैठा सम्मुख
कितना प्रिय, आत्मीय, निकटजन
उस क्षण लगा सुबन्धु प्रमुख !

इसी समय उसके कर में
देखा मैंने निज मुक्ताहार;
कहा चाहता कितनी बातें
असम्बद्ध क्रमहीन प्रवाह !

जीवन-ज्योति घटी जाती थी
पर साहस की कमी नहीं।
श्रम-परिहार, चिकित्सा—वर्जित
स्वामि-कार्य की लगन रही !

"भीषण तोप-अग्नि-वर्षा से
दारा की सेना उखड़ी,
कुछ न सूझता, जान बचा कर
भागें—सबको यही पड़ी !

"हाड़ा छत्रसाल सेना संग
नजवतखाँ की ओर बढ़े
'युद्धक्षेत्र ही एक कसौटी
क्षत्रिय की'—ललकार चले।

"गोले से घायल हो हाथी
चीत्कार कर हुआ विमुख,
कूद तुरत हौदे से, बोले—
'गज मुड़ जाय,न मेरे पग !'

"शत्रु-सैन्य में घुस मुराद पर
किया उन्होने अस्त्र-प्रहार
इसी समय ही रिपु की गोली
से उनका भी हुआ संहार !

"गिरते ही उनके सुपुत्र ने
आगे बढ़ सामना किया

अद्‌भुत शौर्य दिखा उसने भी
राजपूत-व्रत पूर्ण किया !"

रक्त पोंछ पगड़ी से, सैनिक
ने आगे की कथा कही ।
यद्यपि साँस हो रही भारी
पर न रुका, पूरी ही की।

"राजपूत सैनिक मिलकर कुछ
उनको लाए सरिता-तट !
शनैः शनैः मैं भी आया बढ़,
हुआ स्वयं भी था आहत ।

"मुक्ताहार साथ जो देखा
मैंने तब ही यह सोचा—
सुस्मृति रूप रखेंगी इसको
ला पाया हूँ अतः बचा !

"स्वामी को भी यह ही रुचता
इसमें मुझे नहीं सन्देह !
कार्य हुआ-पूरा, अब तत्पर
इस क्षण यदि गिर जाए देह !"

दोनों हाथों को फैलाकर
प्रिय-प्रसाद वह ग्रहण किया
प्रत्यावर्तित प्रियतम से वह
हार हृदय पर वहन किया !

प्रस्तर-मूर्ति बनी, सैनिक से
सुनती रही समर-चर्चा
श्रवण नयन बन, नयन श्रवण बन
देख-सुन रहे चित्र-कथा !

"किसका घातक अस्त्र लगा था ?"—
पूछा प्रश्न, कण्ठ अवरुद्ध !
देख चतुर्दिक्, धीरे से, रुक
कहा—"नहीं उत्तर विश्वस्त!"

"कुछ कहते—मुराद की गोली
से उनका प्राणान्त हुआ !
मेरा यह अनुमान कि नजवत
की गोली से अन्त हुआ !"

कह सरका कुछ निकट, फिर कहा—
"मैं बस प्रातः तक हूँ शेष।
किन्तु आप तक यह रहस्य-
चर्चा पहुँचाना था अभिप्रेत !

"दक्षिण' में औरंगजेब के
पास स्वामि ने दे मुझको
कुछ सम्वाद, किया था प्रेषित,
प्रहरी ने रोका मुझको !

"खड़ा शिविर के पास, सुन पड़ीं
नजवत औरंग की बातें !
अर्थ रहा अज्ञात, नहीं थीं
स्पष्ट मुझे उनकी घातें !

"नजवत खाँ का कहना यह—
'सम्राट् जहाँनारा को दें
बल्ख राजवंशी को बेटी,
उनको कुछ आपद् इसमें ?

'फिर सम्राट्-सुता क्या खुद
बूँदीपति को स्वीकारेंगी ?'

'अल्लाह इस अधर्म का कुछ
प्रतिकार अवश्य करेंगे ही!

'कभी नहीं यह हो सकता,
यदि हुआ, धर्मद्रोही की जय!
साम्राज्य-स्वामी इसलाम-
विरोधी होगा—है निश्चय!'

"यह था औरंग का आश्वासन;
लौट वहाँ से मैंने यह
सारी चर्चा स्वामी से ज्यों
की त्यों वर्णित की थी कह!

"तब से नजबतखाँ से उनका
सम्भाषण औ' शिष्टाचार
बन्द हुआ था पूर्णतया ही;
मन में भरा हुआ था ज्वार!"

क्षत-विक्षत सैनिक ने मुझसे
तभी विदा अन्तिम चाही!
मेरी इच्छा—चिकित्सार्थ
रोकूँ—न उसे स्वीकार हुई!

"स्वामी का अनुगमन करूँगा"—
खिंची क्षीण स्मिति की रेखा,
कर न सकी कुछ, रही देखती
अभिवादन कर चला गया!

यमुना को उन्मुख प्रकोष्ठ में
स्तम्भ निकट भूमिष्ठ हुई।
घृणा, वेदना, शोध, क्षोभ की
ज्वालाओं से दग्ध हुई !

नही रहे तो और निकट
वह आज हुए ज्यों कभी न थे।
मन प्राणों रोमों में ऐसे
साँस-साँस में बसे न थे !

उनके जीवन के अणु-अणु से
आज हृदय को मोह हुआ
हृदय-सिन्धु में विधु-समीपता
पाने को विक्षोभ हुआ !

धीरे-धीरे यमुना की कल-
कल कैसे संगीत बनी,
और दुलेरा की स्वर लहरी
की मधुरिम ध्वनि स्पष्ट सुनी !

सरिता-सी हो रही प्रवाहित
मैं उसमें तिरती जाती !
दूर, दूर अति दूर जा रही
जहाँ न है जग का अस्तित्व !

प्रियतम का वह लोक, वहीं
वरमाला मेरी पहनेंगे !
वहीं स्वयंवर रचा जायगा
मंगल-गीत वाद्य होंगे !

ꕥ

विभीषिका

विभीषिका

(हिंस्र दनुजता-कृत्या-ज्वाला मानवता परिवेश हुई।)

क्रन्दन है या दिवास्वप्न है
विस्मृतिमय चेतना हुई!
वन, गिरि, पथ को लांघ रही-सी
सैन्य दीखती-प्रतिक्षण ही!

वज्रपात करती करका-सी
पदाघात करतीं सर्वत्र
धन-जन-धान्य विनाश कर रहीं
अविरत भीषण युद्ध-निरत!

सैन्य संग काली आंधी-सी
गाज गिराती चलती है!
क्षत-विक्षत कर, रौंद देश को
संस्कृति-वैभव दलती है!

यमुना से गंगा, गंगा से
सागर तक सब लाल हुआ!
रक्त मेघ बन उड़ा, बरस कर
सारा देश बिहाल हुआ!

भीषण दृश्य न अन्त हुए यह
आतंकित जनता में त्रास!
दारा औरंगजेब युद्ध का
मर्यादोल्लंघित इतिहास!

मनुष्यत्व, बंधुत्व - भाव की
मर्यादा निःशेष हुई ।
हिंस्र दनुजता - कृत्या - ज्वाला
मानवता - परिवेश हुई ।

मैंने और पिता ने पत्र
लिखे, "औरंग हो युद्ध - विरत;
पितृद्रोह या राजद्रोह, हैं
दोनों ही अपराध सतत !"

उत्तर— "आप न अपने वश में,
कर अन्याय, भर रहा कान;
अपर सुतों को शत्रु समझ,
नित आप भेजते हैं फ़रमान !

"किंतु नहीं विजयी हो सकता
मुझसे शाह बुलन्द इकबाल;
अच्छा हो, खिदमत हुजूर की
मुझ पर छोड़, जाय पंजाब।"

फल न यत्न का होने को था
सामूगढ़ में युद्ध हुआ ;
मिला ताज खोया दिनान्त तक
दारा बहुत वित्रस्त हुआ !

दारा अपनी फतहजंग,
प्रिय हथिनी, पर आसीन हुआ ;
लडा वीरता से, पर छल, कुछ
भाग्य प्रतीप, मलीन हुआ !

दारा - औरंगजेब युग्म का
द्वन्द्व प्रलकंकर, अति भीषण
मानवता - दानवता में थी
मची होड़ भारी प्रतिक्षण !

मावता ही हारी, दानवता
ने कपट-विजय पाई !
राज्य, पिता, परिजन, स्वजनों
पर, विकट घटा घिर घहराई !

तुममें मानवता की मति थी
कूटबुद्धि - गति परिचय हीन;
वीरभाव का ओज प्रचुर था,
संचालन का अनुभव क्षीण !

राजनीति में शत्रु - मित्र का
अन्तर कुछ न अर्थ रखता;
क्षणिक सिद्धि ही मात्र कसौटी
वही मित्र अरि भी बनता !

यहाँ न भावुकता चलती है
क्रूर यथार्थ - भूमि है ठोस !
क्षण पकड़े जो, स्थिर रह सकता,
तृणवत् उड़ता, क्षण खो होश !

शत्रु ज्ञात भय - पात्र नहीं है,
शंकापूर्ण मित्रता - तोष !
विश्वसनीय नहीं है यह स्थल,
नौ दिन चलो अढाई कोस !

स्वार्थ सिद्धि-आशा उगते ही
तत्क्षण पक्ष बदलते हैं
दक्षिण होते वाम, वाम
पल भर में दक्षिण होते है।

सैन्य उधर, रण-कौशल भी था
छल-बल-अध्यवसाय विशेष;
जोड-तोड़ की नीति-नागिनी
चला गई निज दाँव अशेष !

क्रीत हुए सेना अधिकारी
तुम विश्वस्त निरस्त हुए,
षड्यन्त्रों के गहन जाल में
घिरे हुए संत्रस्त हुए !

खलिलुल्ला को देख विरोधी
उठा पिता से भी विश्वास !
बुद्धि भ्रमित, दिल टूट गया,
सब अपने हुए काल के ग्रास !

व्यंग किया—'सेना के आगे
हैं सम्राट्'—सफल वाणी !
हा, भीषण आक्षेप ! सत्य यदि
होता, जय निश्चित अपनी !

'है जीवित सम्राट्'—भान यह
यदि अरि-सेना को होता,
द्रोह और विश्वासघात
खलिलुल्ला का तत्क्षण रुकता !

ज्योतिष मिस सेनापति ने
आक्रमणोचित अवसर छोड़ा
सामूगढ़ की विजय - पताका
का रुख छलियों ने मोड़ा !

दारा को न हुआ फिर साहस
मिले पिता से भी आकर
भेजा पर सन्देश मुझे कटु
अपने महलों में जाकर !

लोट-लोट पछताते जाते
धरा - अंक छटपटा रहे !
गहरा मन को घात लगा था,
सब आश्वासन - सूत्र ढहे !

उसके बाद व्यर्थ भटकन का
ही विस्तृत अनन्त इतिहास,
दुख के दिवस न देखे, उन पर
कठिन काल का कटु उपहास !

दुर्दिन की तमसा जब घिरती
हिल जाते अजेय योद्धा
अपने सभी छोड़ देते है,
साया तक न साथ देता !

काबुल, सिन्ध, और दौराई
पुनः अहमदाबाद औ' कच्छ;
धूण राज्य के शासक 'जीवन'
निकट रहा था मित्र समझ !

इस असहाय दशा में कर
विश्वासघात रिपु को सौंपा

अविश्वास, छल, विकट प्रवंचन
असहनीय क्या-क्या भोगा !

था सम्राट् निमन्त्रित औरंग
किंतु न वह सम्मुख आया
"अभी नहीं शुभ क्षण मिलने का,
रहो प्रतीक्षा — कहलाया !

शान्तिपूर्ण बटवारे का भी
विफल हमारा यत्न रहा ।
सप्ताह भी तो बीत न पाया
हुआ आक्रमण दुर्ग घिरा !

षड्यन्त्रों का जाल विकट था
गोलन्दाज हुए थे क्रीत
रज्जु सहारे ऊँची दीवारों
पर चढ़ी सैन्य विपरीत !

तीन दिवस सह विषम यातना
पहले तो अवरोध किया !
जलाभाव, षड्यन्त्र-चक्र से
दग्ध, समर्पण विवश किया !

इधर काल की कटु पीड़ा थी
उधर पुत्र की कुटिल-व्यथा
जरा और कारा दोनों की
हुई विषम यातना — कथा !

अन्तःपुर में यों पितुश्री को
बन्दी जीवन हेतु किया;
मुझे स्वपक्षी बन जाने का
आमन्त्रण था पुनः दिया !

किन्तु स्पष्ट मैंने लिख भेजा—
"प्रेत - राज्य स्वीकार नहीं।
पिता समीप बन्दिनी भी बन
रहना — गौरव, भार नहीं!"

पितु, भारत - सम्राट्, पौत्र
सुलतान मोहम्मद के बन्दी !
श्रुतियों में बजती अब भी
अनुचर के हाथों की कुंजी !

"अन्तर की आवाज़ सुनो बस
कर्तृभाव को जाओ भूल !
वहो जहाँनारा, प्रवाह में
स्वतः लगोगी धारा-कूल !

"कल की चिन्ता कल पर छोड़ो
जो आए — विष, सुधा पियो;
गत अतीत, कल किसने जाना ?
तुम इस क्षण को पूर्ण जियो !

"सहज प्रेरणा - धारा चहलो,
कभी सूत्रधर न थीं, न हो;
भावी हानि-लाभ सोचो क्यों
जीवन की पतवार गहो !

भय या मरण महान नहीं
क्यों उन्हें भला दो इतना तूल,
भय - प्रेरित सम्मान - प्रदर्शन-
ग्रहण न रखता कोई मूल्य !

विकल्प-वर्जन में भय है, हो
असुरक्षा हो, भले मरण !
जो आए स्वीकार अनागत,
लगा दाव पर दो जीवन !"

अपना भाग्य चुन लिया मैंने
रोशन की है आज विजय।
दिन था वह भी एक, किया जब
रोशनआरा ने अनुनय !

शाइस्ताखाँ औ' अमीनखाँ
कारामुक्त कराने को !
विद्रोही घातक अपराधी
उनको क्षमा कराने को !

दुश्मन कभी न छोटा होता
काँटा हो सकता घातक—
यह न बोध तब था दारा को,
औरंग कूटनीति चाणक्य !

दिन अब यह भी एक, स्वयं
दारा प्रवास में भटक रहे,

छल-पत्रों के द्वारा उनके
सभी सहारे टूट रहे !

भाई-बन्धु सभी चुन-चुन कर
कुटिल नीति-आखेट हुए,
बन्दी हैं सम्राट् और मैं
प्राण कण्ठ में अटक रहे !

सौंप आगरा शाइस्ता को
औरंग मुराद संग हुए।
दारा थे लाहौर, युद्ध हित
धन-जन-संग्रह हेतु गए !

निज शौर्य और साहस का था
भाई मुराद को अहंकार;
कर स्पर्श कुरान शपथ ली थी,
इस हेतु बन्धु-विश्वास आह !

राज्याभिषेक करने मुराद का
मथुरा निकट शिविर डाला;
संगीत-नृत्य-उल्लास-भरा
उन्मादक, रचा मधुर जाला !

यों सुरा-सुन्दरी से वश मे
विश्वस्त वीर को सहज किया
मद्योन्माद से हो अचेत
गहरी बेहोशी में सोया !

ख्वाजा शहबाज़ एक अनुचर
विश्वस्त, उसे करके समाप्त ;
बालक अजीम से—मुक्ता का
दे लोभ—असि हटा, लिया बाँध !

जगने पर देखा—रहे पाँव
शृंखला-बद्ध, असि नहीं निकट !
हाथी पर बिठा, बन्द डोली
में भेजा उसको सलीमगढ़ !

यों 'पादिशाहजी' कैद हुए
औ' शाह बने खुद काजीजी !
अभिषेक हुआ दिल्ली में, 'आलम-
गीर उपाधि तथा 'गाजी' !

इसी समय फिर शाहशुजा के
बढ़ने का सम्वाद मिला !
सेना-संग औरंगजेब ने
युद्ध-हेतु प्रस्थान किया !

तभी, मार्ग में राजा जयसिंह
से उसका साक्षात् हुआ !
सुलेमान सेना - नायक,
औरंग से सहज विरोध रहा !

औरंग को भय हुआ तभी, अब
यह समाप्ति का क्षण आया !
दूरदर्शिता से अपना
दुर्भाग्य बदल शुभ दिन लाया !

जयसिंह को बहुमूल्य हार
जा निकट, कण्ठ में पहनाया।
स्निग्ध वचन से, विविध भाँति से
कर प्रसन्न बहु गुण गाया !

"दिल्ली के शासक बन मुझको
करिए अपना आभारी,
दिल्ली का साम्राज्य विशृंखल
सेवा का है अधिकारी !"

एक दिवस दारा ने 'गायक'
कह उनका अपमान किया
घृणा छिपी थी अन्तर्मन में
औरंग का यों पक्ष लिया !

तुरत चले दोनों दिल्ली
ज्यों शुक्राचार्य असुर के पक्ष
नियति नचाती है पुतलों को
गतिमय सूत्र नहीं प्रत्यक्ष !

करते सब चरितार्थ चरित ही
अपना यह ही भाग्य-विधान
कितनी शक्ति संग चालित हो
भाग्यों का करती निर्माण !

नर निर्बल निरुपाय वहाँ है
पौरुष उसका शिशु-व्यवसाय
जीवन के शाश्वत जूए में
पासा फेंक रहा असहाय !

विविध शक्तियाँ विविध दिशा में
मिल, कट, काट सतत गतिमान

कारण-क्रिया-प्रतिक्रिया, चलता
चक्रनेमिक्रम प्रकृति - विधान !

युद्धकला से कूटनीति पर
औरंग का विश्वास बड़ा
शाहशुजा की सेना मे, अरि-
प्रतिश्रुत जन - समुदाय बढा !

'नाग - पृष्ठ से उतर आइये—'
अध्यक्षों ने उसे कहा;
भीषण फल उस कुटिल राय
का, उसने तत्क्षण विषम चखा !

सेना में घबराहट छाई
भगदड़ तभी हुई आरम्भ ;
शाहशुजा की विजय, पराजय
हुआ युद्ध का विस्मित अन्त !

शाहजहाँ को अपने पुत्रों
पर विश्वास न अल्प रहा !
किन्तु शुजा की कठिन पराजय
से आशा का दुर्ग ढहा !



वज्रपात

वज्रपात

(मानवता का अन्त देख यह, भग्न आस्था औ' विश्वास)

जीवन और मरण दोनों का
सृष्टि - मंच पर खेल है
मैंने देखा, जग ने देखा
यह जीवन की गैल है!

हन्त! भयानक रूप मृत्यु का
देख रही हूँ! जीवित हूँ!!
मानव रूप—किन्तु भीषण,
उर कीलित, नेत्र-निमीलित हूँ!

तूने कैसा रूप लिया?— यह
नेत्र, न इनमें प्राण रहा!
रुक-रुक चलना स्तब्ध श्वास का
स्वेदयुक्त, हिम - गात हुआ!

रक्तपूर्ण सिर प्रिय भ्राता का
छिन्न सामने प्रस्तुत है!
कैसे इसे पिता ने देखा
होगा—अन्तर जड़वत् है!

जिसका पुण्य प्रताप धरा पर
वायु सदृश ही फैला था।
आज उसी की यह भीषण गति
भाग्य अभागा झेला था!

बढ़ता जाता अन्धकार अब
मेरे नयनों के सम्मुख ;
पूछ रही अपने अदृष्ट से
ऐसा भी क्यों भाग्य विमुख !

निज अतीत की ओर देख
ये नयन युगल झरते जाते,
एक प्रश्न का भी उत्तर, पर
नहीं कहीं से भी पाते।

मैं न किसी की, मेरा कुछ अब
आज न जग में प्रेय रहा ।
विलय हुई सारी आशाएँ
बन्दी जीवन शेष रहा !

ओ मेरे प्रिय बन्धु स्नेहमय
दिवा-स्वप्न वे कहाँ अशेष ?
'दादा अकबर के स्वप्नों को
मूर्त करें' — पावन उद्देश्य !

मानव ,मात्र एक हैं भाई
सबका पिता एक ही ईश,
अल्लाह,राम, रहीम, कृष्ण वह
विविध नामधारी जगदीश !

अरे धर्मधर ! धार्मिकता ही
तुम्हें अधार्मिक नामकरी ?
लांछन, मृत्युदण्ड का कारण!
यह विडम्बना भयंकरी !

वह भी धर्म-धुरंधरियों से!!
'धर्म' बता क्या तेरा रूप ?

धर्म-पाप की क्या परिभाषा ?
क्या है इसका स्पष्ट स्वरूप ?

भाई को जो धर्म, वही
भाई को क्यों अधर्म होता ?
हिन्दू - मुसलमान में क्यों नर
मानव का परिचय खोता ?

धर्मों का यह द्वन्द्व भयंकर,
नर-नर में यह भेद - विधान,
कैसे धर्म कहा सकता है ? —
समझ सकेगा कब इंसान !

एक ईश, अल्लाह — मानते,
सब मानव उसकी संतान
कैसे फिर आस्तिक कहलाते
रचा विषमता का व्यवधान ?

वेदों का है 'ब्रह्म' एक
अल्लाह कुरान का भी है एक।
फिर दोनों ही अद्वैतों में
कहाँ भिन्नता का है छेक ?

शक्तिमान, जब पूर्ण सृष्टि का
जड़-चित् सकल तत्त्व सर्जक !
उसके निर्मित क्रीड़ा - पुतले
किसका करते गर्व पृथक् ?

पिता ईश है उसकी चर्चा
धर्माचरण कहाती है !
क्यों सारी अर्चा की विधियाँ
आपस में टकराती हैं ?

मंज़िल एक, अनेक मार्ग हों
चलने के सब अधिकारी ।
जो चाहे जिसको अपनाए
इसमें क्यों हो लाचारी ?

सूरज देख कमल खिलता है
कुमुद चन्द्र से आह्लादित ;
निशि में सभी युगल मिलते हैं
चक्रवाक-युग क्यों पीड़ित ?

क्यों चकोर चुगता अंगारे ?
चम्पक से अलि व्यथा गही !
रुचि-वैविध्य ईश से सर्जित
सहज सभी का केन्द्र वही !

तुमने यही सत्य—जाना था,
समझा था, समझाते थे !
दर्शनशास्त्र-मनन-चिन्तन कर
धर्म-ऐक्य दिखलाते थे !

इसके हेतु अधार्मिक ठहरा—
'न्याय !' तुम्हारे नाम वदा,
ईसा, मूसा, मंसूरों का
यही रहा परिणाम सदा !

तुमने 'सुन्दर' को देखा था,
'सत्यं' को पहचाना था ।
और 'शिवं' को जग में लाने
का प्रयत्न ही ठाना था !

कला, काव्य, संगीत तुम्हारे
साधन, साध्य वही उद्देश्य;

रुचिर साधना के उपकरणों
का था तुमको ज्ञान विशेष !

तुम संवेदनमय थे, तुम में
रुचि-चेतनता जाग्रत थी
मिथ्या का आवरण हटाकर
सत् की मूर्ति अनावृत की !

उसकी चकाचौंध थी दुस्सह
हठी उलूक हुए विक्षुब्ध
कट्टर संकीर्णत्व अन्ध बन
दाह उसे था कुछ विश्रब्ध !

चीत्कार, क्रन्दन कुछ भी तो
भ्रात न तुम को ला सकता !
'दारा, प्यारे भाई दारा !'—
प्राण एक ही रट रटता।

युद्ध-विधान इसी दिन को था ?
इसी हेतु इतने बलिदान ?
दादा अकबर से मिलने की
इच्छा थी इतनी बलवान !

एक-एक प्रियजन का मिटना
कारा मे हम थे सुनते !
अब किस की बारी—चिन्ता में
मन ही मन अविरत झुरते !

कितने वज्र गिरे उर ऊपर
सब कैसे क्रम से झेले !
तन की कारा में कठजीवी
प्राणों ने सब दिन ठेले !

श्वासों का पीड़ा-स्मृतियों से
हुआ अमिट गठवन्धन है।
अन्धकार में एकाकिनि का
सम्वल, यही शेष धन है !

कूटचक्र था विषम चला
हारे दौराई में दारा ;
राज्य वनाने में सक्षम जो
खो सब, हुआ सर्वहारा !

तीन बेगमें, नन्हीं पुत्री, पुत्र
पर्शिया को उन्मुख !
दो सहस्र सैनिक, अनुचर कुछ
रहे साथ सेवा-उत्सुक !

वह अफगान नरेश, रहे जो
पहले दारा से उपकृत,

दण्डपूर्व, दारा ने ऊँचे
स्वर से करी पुकार, यही—
"औरंग के शासन में सच्चे
धार्मिक का है न्याय यही !"

कैसा था उत्थान तुम्हारा !
कैसा रहा भाग्य का योग ?
'सिंहासन या मृत्यु !'—दाँव में
हार गए तुम सब कुछ खो !

दर्शन के तुम थे विद्यार्थी
क्षेत्र तुम्हारा वहाँ रहा !
संघर्षों के भीषण युग मे
दर्शन को अवकाश कहाँ ?

मनोजगत के विजन बिहारी
कूटनीति का बल न रहा,
स्वार्थ-संकुलित संघर्षों में
विधि-विधान ही प्रबल रहा !

अहंकार की दुर्बलता भी
वृत्ति पतनकारिणी रही,
द्वेष-घृणा की सृजनकरी वह
सुख-श्री की हारिणी हुई !

शिरच्छेद के बाद, शीश
औरंग ने परखा था खुद ही !
पुनः पिता को कारागृह में
भेजा था अवलोकन हित !



अभिशाप

अभिशाप

(मूक तमिस्रा से निकला, अभिशाप तुम्हें यह छू ले ना !)

भीषण यह मन्त्रणा चतुर्दिक
घेरे मुझको, कीलित हूँ
दुस्स्मृतियों की ज्वालाओं में
पल-पल जलती जीवित हूँ !

औरंगजेब ! न 'भाई' शब्द
तुम्हारे हेतु निकलता है;
तन जलता है, मन जलता है,
प्रतिपल जीवन जलता है !

मूक तमिस्रा से निकला
अभिशाप तुम्हें यह छू ले ना।
तुमने बोया जो गरल वृक्ष
उसका फल जल्दी फूले ना !

तुमको 'भाई' कहने में भी
उठती कैसी मन में मरोर !
ओ धूर्त ! रहो प्रतिभाशाली,
अन्तर से उतने ही कठोर !

साम्राज्य-प्राप्ति महदाकांक्षा
प्रतिभा उन्माद बनी जिससे;
इस दुश्चिन्तन का अन्धकार,
तुम देख न पाते कुछ उससे !

धर्मध्वज के नीचे तुमने
ताण्डव का विकट नृशंस नृत्य !
ऊपर से त्यागशील बाना
आकांक्षा के पर क्रूर भृत्य !

ओढ़े गाज़ी की अजा-त्वचा
तुमने गाडे वृक-वक्र दन्त !
इस कुटिलाई का चरम रूप
भाई दारा का 'न्याय' हन्त !

अति वीर, विलासी, नरसिंह से
राज्याभिषेक का किया अहद;
लेकर सहाय की विजय प्राप्त,
छल से मुराद फिर किया कैद !

शिशु-सुत से शस्त्रों को हटना
उस सुप्त सिंह को लिया बाँध;
विश्रब्ध, जाल में अनायास
फँस, विफल शौर्य-साहस अबाध !

ग्वालियर दुर्ग कारा में रख
दण्डित कर, उसका शीश काट;
पुत्रों का भी कर साथ अन्त,
स्मृति से ही कम्पित हुआ गात !

अपराध विना है दण्ड नहीं
'हत्या' मुराद-अपराध बनी !
बन जाय चोर जब कोतवाल,
क्या कर सकता तब स्वयं धनी !

छल से मुराद को कर समाप्त,
फिर सुलेमान का कुटिल अन्त,

कर शाहशुजा का भी विधान
फिर भी कहलाते रहे सन्त

थी सुलेमान की एक माँग
"चाचा मुझको दो प्राणदण्ड,
पर विषपायी कापुरुष-मृत्यु
से नहीं चाहता दीन-अन्त !"

छूकर कुरान को शपथ सहित
था सुलेमान को दिया वचन—
"विष तुमको नहीं देय होगा।"
पर तोड़ दिया तुमने ज्यों तृण !

आश्रय लेने को ब्रह्मदेश
में शुजा गया, संवल न मिला
वन-पशु-आहार बनी देही, उसको !
समाधि का स्थल न मिला।

इस दुखद अन्त से वीर अनुज
के बन्द न होती अश्रु-लड़ी
भावी की अविगत रेखाओं
में अधिक कालिमा दीख पड़ी !

सुलतान मोहम्मद पुत्र तुम्हारा
स्वाभिमान की पूर्ण पूर्ति,
उसने भी भाग्य वहीं पाया
महदाकांक्षा की हुई पूर्ति ?

मुझको भी क्यों न गरल देकर
कर दिया शीघ्र यातना-मुक्त
प्रिय-जन-विहीन, रौरवगत-सा
जीवन न बीतता दग्ध, क्षुब्ध !

क्या हुई शपथ, छूकर कुरान
जिनका साक्षित्व दिलाया था ?
भीषण-प्रतारणा स्वयं रची
सबको दोषी ठहराया था !

वचनों, स्वीकृतियों, शपथों का
क्या मूल्य रहा, कितना महत्त्व ?
कैसा भी साधन क्यों न रहे
उद्देश्यपूर्ति ही मात्र तत्त्व !

बस कूटनीति में नीति निहित !
साधना साध्य का मान नहीं ?
क्या धर्म कलेवर भर ही है
आत्मा उसकी ईमान नहीं ?

तुम खुदावन्द के बन्दे हो, क्या
सत्पथ का अभिमान हुआ ?
क्या नीति-अनीति कसौटी है,
क्या पाप-पुण्य का भान हुआ ?

वात्सल्य, प्रीति, विश्वास सरल
क्या कोषमात्र में रहने को ?
जीवन में छल-बल की प्रबला
वड़वा ही अनुक्षण दहने को !

क्या शील, स्नेह, सम्मान आदि
इन सबका कोई स्थान नहीं !
कोमल नारी की लज्जा का
कुछ मर्म, धर्म कुछ कानि नहीं ?

पतिव्रता नादिरा बेगम तो
पति-पीड़ा से अति दुःख मान,
पहले ही गयी छोड़ यह जग
भावी का उनको हुआ भान !

जार्जिया देश की ईसाई
दारा की उदयपुरी बेगम,
स्वीकार तुम्हारा आमंत्रण
कर, गई हरम के रंग में रंग ।

राणा दिल को भी आमंत्रण
भिजवाया तुमने साधिकार,
हिन्दू बाला के संस्कार
हो सकी न तुम पर सानुराग !

तुम मुग्ध हुए थे केशों पर
कर्तरिका तत्क्षण उठी चली ।
था मोह न यौवन से, तन से
काली कुंचित लट तुम्हें मिली !

राणादिल बेगम को तुमने
फिर लिखा —"रूप अपरूप सुघर !
मुझमें शाहज़ादा दारा को
देखो, मुझसे जाओ न मुकर !

"महारानी तुम्हें बनाने का
निश्चय मेरा है सच मानो !
मुख-रक्त-सिक्त सित वस्त्र-खण्ड
भेजा उपहार, लिखा—"मानो

"हे नृप, सौन्दर्याकांक्षा तो
सुन्दरता की गर्हणा मात्र !

चाहिए रक्त यदि, दे सकती
सेवा में प्रस्तुत तुच्छ गात्र !"

राणादिल की दृढ़ता सम्मुख
औरंग पराजय-शेष हुआ,
फिर नहीं प्रेम-पत्री भेजी
'सम्राट्-गर्व' निश्शेष हुआ !

पहले वह मात्र नर्तकी थी
दारा से उसको प्रेम पूर्ण !
कर आत्मघात अपनी लज्जा
स्वामी सम्मान रखा अक्षुण्ण !

राणादिल का मार्मिक प्रसंग,
मन में स्मृति एक जागती है,
वन्दी होने से पूर्व सीकरी
गई, वही याद आती है।

नीचे का कर दृश्यावलोक, फिर
अतिक्रम कर सोपानों को
ऊपरी खण्ड में पहुँची थी
श्रम-हरण हेतु, सो जाने को !

उपवेशन का था स्थान जहाँ
अति शोभित स्वर्णिम कीमखाब
आले में चित्राधार, चर्मनिर्मित
रखा था स्वच्छ-आभ !

वीणा भी, वहीं एक क्षुरिका
अनुमान हुआ उस काल यही—

दारा ने वहां अवश्य बैठ
विश्राम लिया, कुछ घड़ी सही !

उन चित्रों का संकलन वहां
यह स्पष्ट सूचना देता था।
उनकी हिन्दू-जीवन के प्रति
रुचि-आकर्षण परिचायक था।

वे पत्र हुए अब जीर्ण, समय
अकबर का उन पर था अंकित
उनमें भी पाया एक चित्र
दशनाथ चितेरे से चित्रित !

पालकी, दरिद्र उठाता था
हरिजन बालक, दशनाथ नाम,
मथुरा के मंदिर के बाहर
कालिख से रेखा रहा आंक !

सम्राट् - सवारी निकल रही
सहसा ही उस पर पड़ी दृष्टि।
प्रतिभा-परिज्ञान अचूक, तभी
उज्ज्वल भविष्य की हुई सृष्टि !

अपने प्रासाद उसे रखा
दे सुख-सुविधा सब, कर विचार।
आजीवन हेय जीव रहता,
बन गया योग्य वह चित्रकार !

वह चित्र जगाता था अनेक
कल्पना रहस्यभरी उर में

धूमिल पर्वतमाला से परि-
वेष्ठित प्रासाद पृष्ठ-भू मे

सन्ध्या की ईषत् स्वर्ण आभ
पर्वत शिखरों पर मँडराती।
प्रासाद ओर पगडण्डी-सी
उनमें से जाती बल खाती!

सम्मुख थी सुन्दर खड़ी एक
बाला, नभ ओर किए युगदृग।
वह ज्योति न भूल सकी अब भी,
वह मुद्रा हुई न धूमिल तक!

बाएँ कर में उद्यत कृपाण
फैलाए दक्षिण भुजा पूर्ण!
पीछे सैनिक रच रहे चिता,
हो रहे सकल ही कर्म तूर्ण!

मैंने कोयल से पूछा—"क्या
तुम इसका अर्थ बता सकती?"
क्षण भर को देखा चित्र, युगल
नयनों से ज्यों आभा झरती!

कम्पित स्वर धीरे से बोली—
यह घटना कुरंम देवी की।
बीती है लगभग एक शती,
मण्डोर-कुँवर पर मुग्ध हुई!

निर्णय के पिता विरोधी थे
परिणय हित चुना दूसरा वर।
जब मिली सूचना, विवाह हेतु
चल पड़े उधर से राजकुँवर!

हो गए दिवंगत राजपुत्र
कुरंम ने देखा विषम ठाठ,
धर वाम हस्त में खर कृपाण
झट डाला दक्षिण पाणि काट!

भेजा वह भावी श्वसुर पास—
"यह रही आपकी पुत्रवधू!"
सैनिक से वाम हस्त कटवा
भेजा पितार्थ—"क्या गए भूल?

"हिन्दू नारी आदर्श यही
वरती वह केवल एक बार!
फिर चितासीन हो आहुति दी
यह चित्र उसी का दृश्य-सार!"

कोयल तो यद्यपि चली गई
मैं लेटी हुई अकेली थी।
पर ध्वनि फिर भी थी गूँज रही
मेरी उर-दशा नवेली थी!

हिन्दू नारी कुछ और रही,
थी मुगल-रक्त में वह न वास!
हिन्दू-शोणित में मुगल रक्त
मिश्रण का अकबर का प्रयास।

पहले भी तो कितनी ही शक,
यूची, यूनानी, रोम, हूण,
सिथियन, पिथियन आई अनेक
मिल हुईं एक ज्यों नून-चून!

अवशिष्ट पृथक् आर्यों के चिह्न
नहीं, जिनसे पहचान सही,
क्यों मुसलमान ही अलग रहे
मिल एकरूप हो सके नहीं !

दशनाथ रचित वह चित्र देख
अन्तर्पीड़ा अविराम बढ़ी !
रोई थी माँ के निधन समय
वैसी ही विषम विषाद-भरी !

राणादिल की सुन कथा करुण
दारा का भाग्य सराह रही ।
औरंग कभी समझेगा कुछ
क्या धर्मवृत्ति क्या मूल्य सही!

आकांक्षा दिग्दर्शन की गत
अब हो आई मैं उदासीन
जो रूपचित्र जीवन के हैं
उनमें उलझा मन स्पृहाहीन !

भ्राताओं, परिवारीगन को
जग मृगतृष्णा के सदृश्य रहा ।
सम्राट् पिता की अभिलाषा
था स्वप्न-सौध हो भंग, ढहा !

महदाकांक्षा की वेदी पर
सब की बलि दे, ओ कापालिक !
जीवन श्मशान-सा शून्य बना
हो रहे प्रलय के वैतालिक !

है हंससुता के शुचि तट पर
हीरे - सा ज्योतित ताज, किंतु
सारी शीतलता दहक उठी
यह इन्दु हुआ अंगार-बिन्दु !

जननी समाधिगत शान्त, श्रवण
करती कुरान के वचन पुण्य
पा छिन्न शीश सुत का, सुत से
मृत हुई पुनः जड़, बधिर, अंध !

अब भी क्या पुण्य गिरा उसके
श्रवणों का स्पर्श करेगी फिर
क्षत-पत्र-खगी-सी भटक रही
वह रूह अशान्त फिरेगी चिर !

चिर निद्रागत क्या सोच रही,
क्या चाह रही अज्ञात बात।
दुःस्वप्नों की तम - निद्रा का
हो सकता कैसे अब प्रभात ?

तुम दादा के विपरीत चले
सत्ता का ले अभिमान दान्त !
निर्माण - स्वप्न उनने देखा
तुमने विध्वंस किया मदान्ध !

तैमूर बने तुम भारत के
सुनते दिल्ली का करुण राग !
वह भी तो अब इतिहास बना
तुम भी कल होगे काल-ग्रास !

दारा ने कभी सुनाई थी, वह
मुंज-भोज की कथा करुण।

फिर वैसी विषम परिस्थिति, पर
भाई को कहीं मिली न शरण।

अब आँख खोल निज कर्मों का
कुछ लेखा - जोखा अनुमानो !
घिर रही घनाली क्षितिज-कोर
भावी भीषणता पहचानो !

तुम महाशक्ति के वज्र सदृश
भू पर घहरा गिर जाओगे।
कितने निकेत खण्डहर होंगे
कितनों के भाग्य सुलाओगे !

अत्याचारों के कारण – घन
साम्राज्य - गगन को घेरेंगे
आँधियाँ अराजकता की चल
पतझर के पत्ते बिखरेंगे !

इतिहास आज दिखलाता है
वीरों में यद्यपि जोश रहा,
तैमूरी इस चंगेज़ वंश की
संस्कृति में कुछ दोष रहा !

शूरत्व - दंभ में सर्वमान्य
हो गई हमें बस बर्बरता !
हमने न ग्रहण की आर्यों की
सब प्राणिमात्र की समरसता।

'सत्यं' को हमने मान दिया
'सुन्दर' के हम नित प्रेमी थे
'शिव' भी अपने हित काम्य रहा
जन-हित से पर मह पृथक् रहे !

अन्तिम पृष्ठ

अन्तिम पृष्ठ

(सो घृणा ! ज्वाला !! जगो शुभ-कामना !)

बुझ गया है दीप , छाया घोर तम ,
छिन गया सर्वस्व, अब अस्तित्व भ्रम!

दृष्टि उठती जिस तरफ, तम शेष है,
सब गये, आधार सब निश्शेष हैं !

थे जहाँ मंगल, वहाँ जंगल हुए
हमें सब ही मृत्यु का चंगुल हुए !

भावना मन की जहाँ प्रभु पूजती ,
वहीं मसजिद की सदाएँ गूँजतीं !

आज मसजिद और मन्दिर या महल
हर जगह ही साथ है दिल की दहल!

जान के संग ही अभीष्ट जहान है
जगत कारागार एक महान है ।

शून्य अन्तर, शून्य बाहर, शून्य जग !
आज पिंजर शून्य, चुप है प्राण-खग !

एकाकी जीवन अँधेरे की शमा,
बुझ गई अब छा रही कुलो अमा !

ले गए, हम शव पिता का ले गए,
घन तिमिर के मूक पट में खो गए!

संगमरमर की समाधि बनी हुई
पूज्य पद की देह दफ़नाई गई।

निकट माँ के ही उन्हें सुलवा दिया,
शान्ति उनको मिल सके, करती दुआ!

माँ प्रतीक्षा कर रहीं थीं नित्य ही,
साथ सोएँगे युगल फिर सत्य ही।

दो जनों हित पाठ होगा अब वहाँ
दीप दो फैलाएँगे निज रश्मियाँ!

दुर्ग कारा में सहारा एक था;
स्वास्थ्य-हित आराधना, सेवा तथा।

मृत्यु की चिर कामना करते हुए,
अन्ततः प्रिय पिता यों जग से गए।

याद बाबर पितामह के वे वचन:—
आत्म ही विश्वास का सच्चा सदन।

है न निर्भर योग्य कोई स्थल यहाँ,
हृदय अपना ही हुआ मरुस्थल जहाँ।

याद आती मुझे शैशव की मधुर
बहन - भाई खेलते मिल हर प्रहर।

चाँदनी का ही जगत में वास था,
तम न था, केवल प्रकाश··· प्रकाश था।

खेल, जिसका अन्त यह, वह आदि था
साधना थी तब न तब कुछ साध्य था !

उन दिनों हम खेलते थे सभी हँस,
आज क्रन्दन में रही करुणा सिसक।

खेल इस, उस खेल का अन्तर बड़ा
कहाँ से व्यवधान यह आकर अड़ा ?

हास्य - क्रन्दनमय जगत - रचना हुई
मधुरता-कटुता-भरी है जिन्दगी।

यही जीवन का रहस्य, कि जिन्दगी
दो तटों में धार सी बहती पगी।

अब न मधु की मधुरता लवलेश है
अब शिशिर का त्रास ही अवशेष है !

वात-वर्षा-क्षुब्ध जीवन-तरु हुआ
शेष कुछ स्मृति-पात ही, पतझर हुआ !

यदि घृणा की शक्ति होती शेष अब
तो न औरंग को क्षमा प्राणान्त तक!

गई हिंसा की चरम सीमा निकल
ध्यान भर से छटपटाता मन विकल!

शक्ति दे अल्लाह, क्षमा की अब मुझे
हिंस्र, विषपीड़ित न मन को कर सके।

प्राण पावन और निर्मल अंक मे
छिपालो, रक्षा करो आतंक में!

थे पिता जब इन दिनों पीड़ित अधिक
जानकर भी—निकट, सम्भव मृत्यु भी!

स्वास्थ्य-हित मैं दान-पुण्य न कर सकी
दिए पहले दान में गज भी कभी!

दासियों, दासों, बहुत को मुक्ति दी,
अब रही वन्दी बनी मैं स्वयं ही!

नहीं चाहा रोग की कुछ मुक्ति हो,
यही माँगा ज़िन्दगी से मुक्ति हो!

हैं सदा से नीति-पटु औरंग रहे
भेजते रहते पिता को पत्र थे।

यह न जीवन, अब न दिन, सब ध्वान्त है
विगत यौवन, तमिस्रा की क्लान्ति है!

काल-कारा-क्रूर उर को खा रही
गत-अनागत की न मुझको या' रही!

नींद है या जागरण, अज्ञात है!
स्मृतियाँ? दुःस्वप्न की या भ्रान्ति है!

मुकुट-मणियाँ प्राप्त करना ध्येय था।
क्षमा यदि मिल जाय, वह भी प्रेय था।

किन्तु कर सकते न औरंग को क्षमा,
नहीं भूला छिन्न सिर प्रिय पुत्र का!

किन्तु ममता मृत्यु-क्षण आई उभर!
पुत्र-दर्शन-लालसा थी तीव्रतर!

नयन अन्तर मे नई छाया रही
एक वह ही शेष सुत—माया रही!

स्वर्गवासी पिता की अन्तिम लगन
ले जिसे वे हुए चिरनिद्रा मगन।

मैं पिता की ओर से दूँगी क्षमा,
लिख चुकी हूँ पत्र—साक्षी है शमा!

मिला भाई का मुझे पैगाम है—
मुक्त हूँ—उनके हृदय में स्थान है!

मुझे होंगी लब्ध सब सुविधा, यथा
प्राप्त थी पितु-राज्य में भी सर्वथा!

आ रहे लेने मुझे वे स्वयं ही
मिलूँगी सम्राट्-भाई से सही!

त्याग बन्दी मलिन वेश शृंगार हो!
हो अधर पर हास, उर में हार हो!

सो घृणा ! ज्वाला !! जगो शुभ-कामना !
क्षमा-शीतल उर बने—यह प्रार्थना !

भेंट दूँगी काम्य जो उनकी रहीं
स्वर्ण-भाजन में मुकुट-मणियाँ सभी !

यह मिलन भाई-बहिन का श्रेय हित,
हो सके—यह दुआ ही मन में निहित !

चरम दुर्दिन में कथा प्रारम्भ की
आज उसकी यह चरम परिणति हुई !

जगत-जीवन विकट पारावार है
कथा यह प्रतिरूप उसका, सार है !

हैं गुँथे कितने प्रसंग रहस्य के
युग गए पढ़ पाएँगे जग-जन इसे !

जान पाएँगे तभी—हतभागिनी
वंचिता, दलिता, जगत अनुरागिनी,

शाहजहाँ सम्राट् की दीना सुता,
जहाँनारा-सा न जग में अन्य था।

शप्त जीवन-कथा जग-आशीष हित
काल-धारा में प्रवाहित दीप-सी !



उड़ते पत्ते

उड़ते पत्ते

(उड़ते पीले पत्तों से दिन बीतते)

जीवन-पुस्तक बन्द, खुली फिर आज है
नूतन पत्रों का बढ़ता फिर साज है।
उड़ते पीले पत्तों से दिन बीतते
बिखरे-बिखरे से उदास क्षण रीतते।
चंचल समय - प्रवाह न पीछे लौटता
क्यों अतीत है रह-रह हृदय कचोटता।
यौवन की सब आकांक्षाएँ मर चुकी
विदुषी, प्रेयसि दोनों मुझमें मर चुकीं।

दारा भाई मात्र नहीं, था रूप अपर
मेरा ही आध्यात्म-पक्ष अपरूप सुघर।
दोनों भाई-बहन एक साँचे ढले
कितनी बातों में हम रहे घुले-मिले।
ऐक्य भाव का हो विकास यह रुचि रही
प्राप्ति पूर्णता-भाव, न अब, सब इति हुई।
दारा के संग मुझमें भी कुछ मर गया
पंगु रूप यह अहरह मुझे अखर रहा।
कला धर्म साहित्य-साधना प्रेय था
ग्रंथ लिखे, जिसको यह सबही प्रेय था
किसे कल्पना—आज 'जहाँनारा' नहीं;
दीन-हीन आत्मा इस तन को जी रही!
नहीं बाह्य पंगुत्व, आंतरिक घात है
नहीं दृश्य यद्यपि यह किन्तु असाध्य है!
धीरज, यादों की वैसाखी को लिए
चलता जीवन, मन घुटता तो रो लिए।

एक जगा व्यक्तित्व दुलेरा के लिए
सोया उनके साथ हमेशा के लिए।
यौवन की उमंग झुर-झुर कर सब लुटीं
भाव-तरंगें उठी, बुलबुले-सी मिटीं।
अब न कभी वैसे दिन होंगे, रात या
यों सब होंगे, साथ और प्रभात क्या!
किन्तु रोशनी इस अन्तर की बुझ गई,
अब दिन दिन है रात रात सूने वही!

कुछ न मुझे रुचता, जीवन अब भार है,
जग में सब ही मुझको हुआ असार है।
सब खो, चिन्तन-केन्द्र पिता कुछ काल थे
वह भी गए, बुरे अब मेरे हाल थे।
उनकी सेवा, चिन्ता भरतीं शून्य थीं
अपनी इच्छा रही न मुझमें न्यून भी।

लक्ष्यहीन जीवन-नौका मझधार की
भटक रही घर की न रही या घाट की।
महाशून्य ! तू मेरी स्मृति को पूर
ओ चित्! मेरी जड़ चेतनता चूर
जीवन-स्मृतियों मुझे सताओ मत
नहीं जानती निज को, अपने से डर
'मैं' क्या हूँ ? क्या केवल कोरा शून्य
बिना सहारे क्यों अपने में न्यून हूँ
क्यों अपने संग रहना दुष्कर भार
उठक-पटक करता खाली मन हार
ध्यान, धर्म, अध्ययन, कुछ मनभाव
इससे उसमें मन कर रहा पलायन
निज शून्यता—व्यथा हूँ, उन्मन
अपनी भटक, कसक, स्मृतियों की
निज तन-मन-चिन्तन-कारा के सब
जीवन के प्रति दृष्टि मात्र में मुक्ति

वन्दी-गृह में पिता-निधन से कुछ बदला है
भ्रातृ-हृदय या कुछ मेरा ही मन पिघला है
मृत्यु अनागत की उनको दे गई चुनौती
आत्मदंश की अथवा कुछ कचोट है होती!

धर्मव्रती या सत्यव्रती जन – आत्म - वंचना,
सतत प्रीति की क्षुधित चाह ही आदि प्रेरणा!
किन्तु प्रतीति स्वयं को, पर को यही दिलाता,
मिथ्या गौरव - मरीचिका - छलना में जीता।
क्या पा सकता? जीवन भर भटकन ही पाता
क्या दे सकता जग को जो खुद ही हो रीता
देने-पाने, धर्म - सत्य का स्रोत प्रेम ही
सृष्टि, कला, जीवन-उद्गम की सतत ज्योति भी।
व्यक्ति-समाज परस्पर दर्पण, विम्बित करते
पाते एक-दूसरे से जो, देते-लेते।
प्रीति-प्रवंचित भ्रात न तुमने उसको जाना,
जग की, तेरे जीवन की भी यह विडम्बना!

भाई औरंगजेब कृपालु हुए है मुझ पर
नहीं आगरा गए पिता जीवित थे जब तक।
अब आए, मुझको दिल्ली अपने संग लाए
सब सम्मान, मिले जो पहले, फिर लौटाए
मिला बादशाह बेगम का मुझको फिर से पद
ऐसे भी अधिकार न जो रोशन को उपलब्ध।
दुर्ग-बाह्य जो भवन रहा रह सकती उसमें
है आश्चर्य महान प्रतीति रही क्यों मुझमें।
नहीं नीतियाँ मिलें, सुनी जातीं सब बातें
हो जाती हैं सह्य बड़ी भगिनी के नाते।
एक विशेष तृप्ति भी उनने मुझको दी है
मेरा उसके लिए हुआ हर रोम ऋणी है
दारा की आत्मजा, जानबेगम,[१] अनाथ थी
पहले रोशनआरा के वहं रही साथ थी।

एक जगा व्यक्तित्व दुलेरा के लिए
सोया उनके साथ हमेशा के लिए।
यौवन की उमंग झुर-झुर कर सब लुटीं
भाव-तरंगें उठीं, बुलबुले-सी मिटीं।
अब न कभी वैसे दिन होंगे, रातें या
यों सब होंगे, साथ और प्रभात क्या!
किन्तु रोशनी इस अन्तर की बुझ गई,
अब दिन दिन है रात रात सूने वही!

कुछ न मुझे रुचता, जीवन अब भार है,
जग में सब ही मुझको हुआ असार है।
सब खो, चिन्तन-केन्द्र पिता कुछ काल थे
वह भी गए, बुरे अब मेरे हाल थे।
उनकी सेवा, चिन्ता भरतीं शून्य थीं
अपनी इच्छा रही न मुझमें न्यून भी।

लक्ष्यहीन जीवन-नौका मझधार की
भटक रही घर की न रही या घाट की।
महाशून्य ! तू मेरी स्मृति को पूर दे
ओ चित् ! मेरी जड़ चेतनता चूर दे!
जीवन-स्मृतियों मुझे सताओ मत अरी
नहीं जानती निज को, अपने से डरी।
'मैं' क्या हूँ ? क्या केवल कोरा शून्य हूँ !
बिना सहारे क्यों अपने में न्यून हूँ ?
क्यों अपने संग रहना दुश्कर भार है,
उठक-पटक करता खाली मन हार है।
ध्यान, धर्म, अध्ययन, कुछ मनभावन है,
इससे उसमें मन कर रहा पलायन है।
निज शून्यता—व्यथा हूँ, उन्मन-पीड़ा हूँ,
अपनी भटक, कसक, स्मृतियों की क्रीड़ा हूँ !
निज तन-मन-चिन्तन-कारा के सब बन्दी,
जीवन के प्रति दृष्टि मात्र में मुक्ति निहित!

बन्दी-गृह में पिता-निधन से कुछ बदला है
भ्रातृ-हृदय या कुछ मेरा ही मन पिघला है
मृत्यु अनागत की उनको दे गई चुनौती
आत्मदंश की अथवा कुछ कचोट है होती !

धर्मव्रती या सत्यव्रती जन – आत्म - वंचना,
सतत प्रीति की क्षुधित चाह ही आदि प्रेरणा !
किन्तु प्रतीति स्वयं को, पर को यही दिलाता,
मिथ्या गौरव - मरीचिका - छलना में जीता।
क्या पा सकता ? जीवन भर भटकन ही पाता
क्या दे सकता जग को जो खुद ही हो रीता
देने-पाने, धर्म - सत्य का स्रोत प्रेम ही
सृष्टि, कला, जीवन-उद्गम की सतत ज्योति भी।
व्यक्ति-समाज परस्पर दर्पण, बिम्बित करते
पाते एक-दूसरे से जो, देते-लेते ।
प्रीति-प्रवंचित भ्रात न तुमने उसको जाना,
जग की, तेरे जीवन की भी यह विडम्बना !

भाई औरंगज़ेब कृपालु हुए हैं मुझ पर
नहीं आगरा गए पिता जीवित थे जब तक।
अब आए, मुझको दिल्ली अपने संग लाए
सब सम्मान, मिले जो पहले, फिर लौटाए
मिला बादशाह बेगम का मुझको फिर से पद
ऐसे भी अधिकार न जो रोशन को उपलब्ध।
दुर्ग-बाह्य जो भवन रहा रह सकती उसमें
है आश्चर्य महान प्रतीति रही क्यों मुझमें।
नहीं नीतियाँ मिलें, सुनी जाती सब बातें
हो जाती हैं सह्य बड़ी भगिनी के नाते ।
एक विशेष तृप्ति भी उनने मुझको दी है
मेरा उसके लिए हुआ हर रोम ऋणी है
दारा की आत्मजा, जानबेगम,[१] अनाथ थी
पहले रोशनआरा के वह रही साथ थी।

रोशन में ममता न रही, निर्भय उसके प्रति
भेजी मुझको दिन-दिन होती देख शीर्ण अति।
पा दारा को पुत्री तन-मन हुए हरे हैं,
जीवन - केन्द्र बनी, अब मेरे प्राण तरे हैं।

माँ के बाद पिता के दुःखों की सहभागी
उनकी सब चिन्ताओं में रहती मैं पागी।
उनके बाद सहारे जीवन-हेतु छुटे थे
जीवन-केन्द्र चाहिए कोई सभी मिटे थे।
भटक रही थी निरुद्देश्य जीवन की नौका
लक्ष्य मिल गया, लगी किनारे, मन है हलका।

जननी-जनक-अभाव कर सकूँ यदि मैं पूरा
जो अनाथिनी को न मिला, हो मुझ से पूरा।
तन-मन से हो पूर्ण स्वस्थ वह रहे न रोगी—
मेरे खंडित जीवन की सार्थकता होगी।
दिन दिन कैसा रूप निखर आ रहा उकसता।
स्वाभिमानिनी, किन्तु न उसको गर्व तनिक सा।
ओजवती है, भावुक, अतिशय रूपवती है।
जनक-जननि की शुचि उदारता रक्त बसी है।
हैं उसकी आदर्श सभी गरिमामय नारी।
युद्धकला भी सीखे, उसकी इच्छा भारी।
संयुक्ता-सी, नूरजहाँ बेगम-सी वीरा,
उसे बनाऊँगी मैं विदुषी बाला धीरा।

जेबुन्निसा और जीनत औरंग की पुत्री
उनके संग वह रहे, उन्हें मुझमें है रुचि भी।
जेबुन्निसा कुशाग्रबुद्धि, भावुक विदुषी है
किन्तु पिता की प्रवृत्तियाँ उसमें न सभी हैं।
कला-विरोधी पिता, स्वयं वह कलामयी है।
घृणा काव्य से उन्हें और वह कवयित्री है।

इसीलिए वह कितनी बार दौड़ती आती,
अपनी रुचियों में सहमति पा खिल-खिल जाती।

सेवामयी, नेक, जीनतउन्निसा सुता है
उसमें ही मुझको भाई का भाग्य दिखा है।
छाया भी न साथ दे—तो भी साथ रहेगी।
अटल सहारा बन दुर्दिन में हाथ गहेगी।
शुचि आचरण, समर्पणमयी वृत्तियाँ सारी।
हो साकार तपस्या जैसे, ऐसी नारी।
भाई के गुण बँटे पुत्रियों में दोनों में।
अवगुण राजनीति सम्बन्धित रहे न उनमें।

इनके संग, उसका विकास भी समुचित होगा
स्नेह बढ़ेगा, जानी का सब हित ही होगा।
देख उसे, उसका विकास, मन शीतल होता।
किन्तु कहीं पर जैसे कोई डंक चुभोता।
होता मन—भाई-भाभी यदि उसे देखते,
कितना सुख होता, उसके हित क्या-क्या करते!

जी अब पुनः जहाँनारा, अब माँ बन कर जी!
नारी का जो चरम श्रेय, ले पा उसको भी!
ओ विभु! बिठा हिंडोले में तू हमें झुलाता,
कभी धँसा पाताल, कभी आकाश चढ़ाता।
तू ज्ञाता तू ज्ञेय शक्ति तेरी असीम है,
हम अबोध, हममें ग्राहकता भी ससीम है।

कभी रही बेगम दारा की
उदयपुरी अब औरंग की ।
प्रिय सर्वाधिक 'पुत्रवती'
सौभाग्यवती वह आज हुई !

हैं प्रसन्न दोनों इस अवसर
कामवख्श रक्खा है नाम ।
है अज्ञात विधाता की गति
कब दक्षिण वह कब है वाम!

उदयपुरी तुमने दारा को
याद किया या नहीं किया !
किन्तु न जाने मेरा क्यों
बस भर भर आया आज हिया !

::

इसलाम जोश में भाई को
नित बातें नई सूझती हैं
भौतिक 'सुन्दर' आकर्षक से
कुंठित हो बुद्धि झिझकती है

इसलाम कसौटी है उनकी
जो पाप पुण्य को तोल रही;
संगीत शास्त्र की इसीलिए
कह 'कुफ़' विदाई आज हुई।

गायक-गण एक सहस्र रहे
दरबाराश्रय से हुए हीन
रोज़ी-रोटी खो कलावन्त
परकटे विहग से हुए दीन।

थे कलाकार जिन्दा दिल भी
कुछ, नाटकीय मसखरी भरी
जुम्मे के दिन जब मसजिद को
औरंग जाते कुछ सलाह करी।

सबने मिल वाद्यों-यन्त्रों के
तैयार जनाजे बीस किए,
छाती पीटी, चिल्ला, रोए
कन्धों पर ढोते उन्हें चले।

पूछा जब उनसे हेतु, कहा—
'संगीत, शाह की आज्ञा से—

मर गया, जनाजे को उसके
दफ़नाने को जा रहे लिए!"

उत्तर था शान्त, अडोल, अटल-
"गहरा दफ़नाएँ खूब उसे;
जी उठने की फिर से, जिससे
आशंका कहीं न शेष रहे!"

सिहरे होंगे पितुश्री, दादा
परदादा अपनी कब्रों में!
सौन्दर्य, कला के पूजक सब
बसते जो साँसों-रोमों में!

बस अन्धजोश में शासकीय
आज्ञाएँ नित्य निकलती हैं
कुछ गिनती उनकी नहीं,
गोलियाँ, जैसे तोप उगलती है!

सब बन्धु-बान्धव-मन्त्रीगण
हर रात तोड़ते नियमों को,
संगीत न, निकला गलियों से
मदिरा पीती है कितनों को!

जूएखाने आबाद रहे,
अब भी बसती हैं वारवधू।
करते है गणक भविष्य-कथन,
सुनने वाले सुनते पग छू!

अब भी नर केवल नर ही है
उसकी प्रवृत्तियाँ वही रहीं
हिन्दू हों, मुसलमान चाहे,
मानव-रुचियाँ बदलीं न कभी !

हिन्दू कितने ही श्लाघनीय
कह सकते उन सबको न धूर्त,
बल से परिवर्तित करो धर्म
कैसे सकते संस्कार छूट !

इंसाँ इंसाँ है—भला, बुरा
कोई भी उसका धर्म, पूत !
हो परम सत्य यह ही वरना
हों मुसलमान सब देवदूत !!

इन फ़रमानों का मूल्य नहीं,
कोई न कहीं चिन्ता करता;
जो पालन करवाने वाले,
वे स्वयं नहीं पालन-कर्ता !

क्यों बलख''बनाने की इच्छा
यह भारत इसके बनो बन्धु !
बस क़ौम मुग़लिया ही न यहाँ,
यह मानवता का महासिंधु !

संकीर्ण वृत्ति लख दुखता मन
कठमुल्लापन छाता जाता।
पर सब दिन भाई काष्ठ न था,
यौवन-प्रसंग वह याद आता !

::

दक्षिण का शासक बन कर जब जाता था औरंगाबाद,
बुरहांपुर मौसी से मिलने ठहरा, थी कुछ दिन की बात।
बुरहांपुर के शासक मौसा रहे उन दिनों मीर ख़लील,
ताप्ती-तट पर सुन्दर उपवन, जिस पर छाया था नभ नील।
टहल रहा था वह उपवन में, एक किशोरी जब आई
आम्र वृक्ष के नीचे जा वह देख रही फल ललचाई।
कनक-यष्टि-सी किन्तु सुकोमल बाला की नव तरुणाई
वे रसाल रस-भरे भूमते, भूम रसीली अँगड़ाई।
उछल उछल जब तोड़ रही फल, अंग-अंग था लचक रहा,
खिंचा जा रहा मन आकर्षित, यद्यपि तन था हिचक रहा।
मोहित औरंगजेब देखता वज्राहत-सा स्तब्ध हुआ,
मासी को जब मिली सूचना, अपने पति से वृत्त कहा।
कुँवर-प्राण-रक्षा की जब तदबीर नहीं कोई देखी,
अतः छत्रबाई के बदले हीराबाई उसको दी।

हीराबाई जैनाबादी बन अन्तःपुर में आई,
मन, मस्तिष्क और अन्तर पर विछल चाँदनी-सी छाई।
औरंग तब इसलाम, महत आकांक्षाओं को जैसे भूला,
प्रेम, रूप, संगीत, कला के डोले में कुछ दिन झूला।
जैनाबादी की इच्छा से था पीने को मद उद्यत,
'केवल मात्र परीक्षा थी'--कह इस आग्रह से किया विरत।
प्रेममूर्ति थी जैनाबादी, प्रेमपुजारी औरंगजेब,
हन्त! शीघ्र ही रुला आठ आँसू दे गई हृदय को खेद!

हीराबाई की घटना औरंगजेब का प्यार मधुर,
केवल सूखा काष्ठ मात्र वह नहीं, न था केवल ऊसर!
कहाँ हृदय की निधि वह खोई कहाँ गई स्नेहाकुलता!
स्नेह-ऊष्मा को धक्का दे कब आ बैठी शीतल जड़ता?

जानी बेगम का विवाह
शाहज़ादा आज़म से निश्चित।
माँ की स्थानापन्न, करूँगी
निज गृह से सब रीति विहित।

प्यारे भाई, तुमने कितना
चाहा—मेरा ब्याह रचे।
मुग़ल कुमारी का अभाग्य
ना मुझे झेलना कहीं पड़े!

पुत्री के जीवन में इस
पावन इच्छा की रक्षा हो।
जानी के जीवन में मेरा
जीवन-सपना सच्चा हो।

::

खुशी न मन को भर भी पायी
बैठा हृदय सनाका - सा
हिन्दू - मंदिर, विद्यालय सब
होंगे ध्वस्त—धमाका - सा !

तर्क किया, पर व्यर्थ हुआ सब,
मंदिर नहीं, राज्य की नीव
खुद जाएगी, जो डाली थी
प्रपितामह ने समता-लोक !

शाहज़ादे में बीज रूप था
हो सम्राट् पनपता अब ।
यौवन में ओरछा - विजय में
किया रहा देवालय ध्वस्त !

चिन्तामणि मंदिर भी गोवध
करवा कर अपवित्र किया,
अब तो सोमनाथ, फिर काशी
विश्वनाथ को छिन्न किया !

रत्नजटित सब मूर्ति, आगरा
मेरी जागी मसजिद में
सीढ़ी के नीचे दबवाई
पदाक्रान्त वह नित्य रहें !

कितनों पर कुदृष्टि थी, उनके
सोमेश्वर भी संग ढहा ।
पाटण केशवराय सुमन्दिर
छत्रसाल बुन्देले का !

वीर किशनसिंह ही था जिसने
लगा प्राणपण रक्षा की ।

कट्टर धार्मिक हिन्दू वह भी,
वीरव्रती ने टक्कर ली !

उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम
से विनाश की चली हवा
कितनों के अभिशाप मिले
दे सकता दिल से कौन दुआ !



नहीं तलवार, प्यार ही तो है सदा बहार
जीत सको जीतो दिल, रक्तपात मत करो।
पैगम्बर बैठा जो अन्तर में देखो उसे
अर्द्धचन्द्र देकर यों निर्वासित मत करो।
राक्षस को बरबस ही लाकर बिठाओ मत
मानवता लांछित यों दानव से मत करो।
धर्म है — ध्यान, विश्वास, भक्ति, ज्ञान, प्यार
नफ़रत के तम में घसीट उसे मत धरो!

आलमगीर ज़िन्दा पीर बने रहो अच्छा है
अल्लाह है एक, जीव आलम के उसके हैं।
हिन्दू या मुसलमान, पारसी, ईसाई—भाई
सब ही तो उसके हैं, उसके हैं, उसके हैं।
मसजिद ये, मन्दिर ये, गिरजे ये, उसके हैं
क्यों विनाश-ध्वंस जब सब ही ये उसके हैं।
सदुपयोग शक्तियों का करो शक्तिमान हो
पाप हैं तुम्हारे सभी पुण्य-पुण्य उसके है!

::

पिछले इन कुछ वर्षों का
ऐसा ही है भीषण इतिहास ;
क्षीण हुए सुस्तम्ब राज्य के
कितने बने काल के ग्रास !

बने शिवाजी राजा, उनका
अब राजत्व किया स्वीकार ;
कितने समय शक्ति का निष्फल
दक्षिण-जय हित हुआ संहार !

रोशनआरा बहिन गई,
जसवन्तसिंह भी चले गए ;
कूटनीति कुछ काम न आई
दुर्गादास चतुर निकले !

जज़िया फिर हिन्दू जनता पर
मैंने पूरा किया विरोध।
सुना, दूसरे कान निकाला,
काल स्वयं लेगा प्रतिशोध !

माँ क्यों हमको जनम दिया था,
भला हुआ तू चली गई;
तू ही बस सौभाग्यवती थी
अशुभ देखने नहीं रही!

प्राकृत हो आपत्ति अगर
मन किसी तरह धीरज धरता।
अपनों के हाथों से पीड़ा
मिले, गुणित हो दुख बढता!

जरा आ रही, सुत द्रोही
विश्वास किसी पर शेष नहीं;
अपना कोई नहीं—अकेला
कहीं मित्र अवशेष नहीं!

उसी पुरानी कूटनीति से
अकबर तुमसे छला गया
सभी सहारे छूट गए, अब
दर-दर मारा भटक रहा!

रख न सका बच्चों को भी सँग
बेचारे दुर्भाग्य - पिटे!
सफियतुन्निसा बुलन्दअख्तर
राठौरों के पास छुटे!

देखा अपने कुल का गौरव
अब बिखराव सामने है!
देख-देख पथराई आँखें
क्या भवितव्य देखने हैं?

खो गया भाई कहाँ, सम्राट् में मैं, ढूँढती हूँ।
शेखसादी की कथाएँ, फ़ारसी कविता जिसे स्मृत,
प्यार हीरा किशोरी का, गायिका का रंग उर पर,
कलाप्रिय भ्राता कहाँ है ? फलक से मैं पूछती हूँ !

बीच भीषण युद्ध के जो बन्दगी कर सके निश्चित
मृत्यु के सम्मुख डटे जो शृंखला से बाँध कर गज
अटल सेनानी जयी, जो मृत्यु से वो हाथ करले,
धीर वह भाई कहाँ है ? खलक से मैं पूछती हूँ !

छिन्न शंका-कीट से उर-कुसुम दीन, मलीन हो जो
किसी का वह नहीं, जिसका आज निज कोई नहीं, वह
है अकेला, भरे जग में, जूझता तम से अलक्षित
कहाँ 'आलमगीर' भ्राता ? चल पवन से पूछती हूँ !

भाई फिर दक्षिण जाते हैं
मैंने उनसे यही कहा—
दक्षिण सदा बुलाता सबको
कठिन लौटने की बेला

माँ, राजा जयसिंह, महावत—
खाँ, कितने ही और गए।
दक्षिण के हो रहे, न लौटे
राह देखते अन्य रहे।

यह भी कहा कि शायद अब
हम भाई-बहिन न मिल पाएँ;
मन कुछ ऐसा ही कहता,
जाने क्या होनी दिखलाए!

::

कितनी बदल गई, लगता
यह कथा लिखी अज्ञात ने।
भूल गई कुछ याद रही
था पढ़ा कभी इसको मैंने।

शान्ति कभी न हुई है जग में,
शान्ति-चिन्तना है वंचन;
रण की तैयारी चलती है
या रण चलता—यह जीवन!

शंख-वृत्त-सा धीरे-धीरे
गति करता मानव इतिहास,
इस जीवन-क्रम के भीतर ही
होता होगा कहीं विकास।

ध्वंस देखते आँख थकी है,
मानव-कृति का रूप यही;
अब न कामना इस धरती से
कुछ प्राणों में शेष रही!

अब केवल सोने की इच्छा
शान्त भूमि यदि कहीं मिले,
यहाँ राज्य शैतान कर रहा
उर के छाले सतत छिले!

*

सन्त निजामुद्दीन निकट
अपने हित चिर आश्रय खोजा ;
कहीं चिरन्तन वास मिले—
इतनी ही है अन्तिम इच्छा !

हो मजार पर हरी घास भर
केवल नाम—जहाँनारा,
सर्वोत्तम आच्छादन उसका
जो थी मात्र सर्वहारा !

शाहजहाँ सम्राट्-सुता मैं
शिष्या सलीम चिश्ती की,
अल्लाह की इच्छा पूरी हो
अब बस मेरी दुआ यही !

'राजसुता' का मद ! महत्त्वा-
कांक्षा युक्त जहांनारा !
निज महानता से सम्मोहित
थीं बन्दी निज दुग-कारा।

सब ही जग-जन दुःखग्रस्त
क्या खास तुम्हारा कष्ट रहा ?
शोषण औ' अन्याय बीच
एकाकी को सुख भला कहाँ ?

जीवन का है क्या महालक्ष्य--
'सुख', 'ईश्वर', 'सत्य' कहो कुछ भी;
प्राणों की खोज चिरन्तन का
है नाम 'प्रेम', चिर सत्य यही !

जीवन की सारी दौड़-धूप
यदि यह मंज़िल पा जाती है,
'होने' को सार्थकता मिलती
वेदना विलय हो जाती है !

क्या 'प्रेम'? नहीं है वह 'पाना';
'देते रहने' का सतत नाम !
उसकी झोली है सदा भरी
वह ही जी सकता पूर्णकाम !

ঃঃ

क्यों जीना ? है लक्ष्य क्या जीवन का अभिप्रेत !
पुष्प, पत्र, नक्षत्र सब खिलते किसके हेतु ?

जग-जीवन-स्पर्द्धा रही, किंतु न भोग-विरक्ति,
दो लोकों के बीच में कैसे होती मुक्ति ?

आकांक्षा-नैराश्यमय क्यों हो जीवन काम्य,
इच्छा-आशा-मोह-भय-मुक्त रहे अविराम !

जीवन्मुक्ति-प्रबोध को सम्भव है क्या मुक्ति ?
किसने बाँधा, कौन से, चाह रहा मन मुक्ति !

रवि उगता, तरु फूलता, किस आकर्षण हेतु',
प्रेमपूर्ण निरपेक्षता में जीवन-संगीत !

भव में वास-वसन-अशन, निज-पर, सुख-दुख-पूर,
पद्म-पत्र-निर्लिप्त बन जीने में है नूर !

सत्य जुलाहे[३४] ने कहा—"मृत्यु गहे कर केस,
ना जाने कित मारसी कै घर कै परदेस !

"झूठे सुख को सुख कहैं, मानत मन में मोद
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।"

जीवन-मरण पृथक् नहीं ज्योतिच्छाया साथ,
दोनों का सम स्वीकरण, सम्बल लो निज हाथ !

कोई नहीं सहाय है, आत्मा एक बुजुर्ग;
कोई अपना घर नहीं, मुक्त-भाव ही दुर्ग !

भूत-भविष्यत-कल्पना में स्थिति, शून्य विचार,
वर्तमान क्षण मात्र ही दोनों का आधार !

विगत-अनागत-चिन्तना, आत्म-पलायन व्यर्थ
जो 'है', 'यह क्षण'—सत्य हैं, इनमें जीवन-अर्थ !

स्मृति-अरण्य-भटकन सतत, वर्तमान निरपेक्ष
हो यथार्थ जीवन सुलभ, यदि अतीत से मोक्ष !

बीते क्षण के प्रति विरति, नव क्षण नूतन जन्म
जीवन्मुक्ति-स्वरूप यह स्थिति-प्रज्ञता-मर्म !

'चरैवेति' कहते रहे, द्रष्टा ऋषि वैदिक
बहता जीवन-जल रहे, संस्कृति-श्रेय निहित !

नाम बिना 'मैं' कौन हूँ, नाम रहित व्यक्तित्व,
अनस्तित्व के सिन्धु में लय होना अस्तित्व !

किस क्षण सुख, किस क्षण दुखी, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध,
पल-पल रूप बदल रहे, कैसे 'मैं' का बोध !

दुख-सुख-भोक्ता कौन है विविध भाव-आधार ?
अनुभवकर्ता से परे क्या अनुभव व्यापार ?

मैं ही अपनी भ्रान्ति हूँ, मैं ही अपनी शक्ति,
अनुभवकर्ता से पृथक्, नहीं ज्ञेय अनुभूति !

महाकाम्य कुछ भी नहीं, अनुक्षण जियो अशेष
स्तर-स्तर छीलो प्याज को, शून्य मिलेगा शेष !

लघु-महान कुछ भी नहीं, जो 'है' वही महन,
यहाँ ग्रहणकर्ता कहाँ, कहाँ ग्रहण की वस्तु !

महाशून्य मे शून्य की क्रीड़ा होती शून्य,
शून्य शून्य से यदि घटे, शेष रहेगा शून्य !

::

परिशिष्ट

परिशिष्ट १ [तिथिक्रम]

२१ मार्च	१६१४	जहाँनारा का जन्म (हीनी ग्राम में)
	१६१५	दारा का जन्म
	१६१६	शाहशुजा का जन्म
	१६१७	रोशनआरा का जन्म
२४ अक्तूबर	१६१८	औरंगज़ेब का जन्म
	१६२३	मुराद का जन्म
	१६२८	शाहजहाँ सिंहासनारूढ़
७ जून	१६३१	मुमताजमहल की मृत्यु
	१६३१	जहाँनारा को बेगम साहब का पद
१ फरवरी	१६३३	दारा का विवाह
२८ मई	१६३३	हाथियों की लड़ाई
१५ फरवरी	१६३८	जेबुन्निसा बेगम का दौलताबाद में जन्म
	१६३९-१६४०	जहाँनारा ने संत चिश्ती की जीवनी फारसी मे लिखी
	१६४१	जीनतुन्निसा बेगम का औरंगाबाद मे जन्म
२६ मार्च	१६४४	जहाँनारा का जलना
२५ नवम्बर	१६४४	जहाँनारा के स्वस्थ होने का महोत्सव; पदच्युत औरंगजेब को पुनः सूबेदारी मिली
६ सितम्बर	१६५६	सम्राट् शाहजहाँ रोगग्रस्त
१४ फरवरी	१६५८	बहादुरपुर मे सिपरशिकोह द्वारा शुजा की हार
१५ अप्रैल	१६५८	धरमत का युद्ध, जसवन्तसिंह की अध्यक्षता मे शाही सेना की पराजय
२९ मई	१६५८	सामूगढ़ युद्ध, दारा की पराजय
८ जून	१६५८	आगरा दुर्ग में शाहजहाँ बन्दी
२५ जून	१६५८	मुराद बन्दी
२१ जुलाई	१६५९	औरंगजेब का प्रथम राज्याभिषेक
५ जनवरी	१६५९	खजुआ में शुजा की हार
१३ मार्च	१६५९	दौराई-युद्ध मे दारा की हार
५ जून	१६६०	औरंगजेब द्वितीय—राज्यारोहण समारोह
२७ दिसम्बर	१६६०	सिपरशिकोह बन्दी
	१६६०	सुलेमान शिकोह बन्दी
३० अगस्त	१६६०	दारा—मृत्युदण्ड

६ जून	१६६१	शुजा का अन्त
४ दिसम्बर	१६६१	मुराद मारा गया
मई	१६६२	विष देकर सुलेमान शिकोह का अन्त
३१ मार्च	१६६३	मीरजुमला की मृत्यु
५ अप्रैल	१६६३	शाइस्ताखाँ की शिवाजी द्वारा पराजय
२२ जनवरी	१६६६	शाहजहाँ की मृत्यु
१२ मई	१६६६	शिवाजी आगरा में
१९ अगस्त	१६६६	भाग निकले
२४ फरवरी	१६६७	कामबख्श का जन्म
	१६६७	जहाँनारा को बादशाह बेगम का पद पुनः प्राप्त
	१६६८	शिवाजी ने राजा की उपाधि धारण की
	१६६८	शाही दरबार में संगीत बन्द
	१६६९	मुहम्मद आजम और जानी बेगम का विवाह
	१६६९	मंदिर तोड़ने का फरमान
जनवरी	१६७०	मथुरा का केशवराय का मंदिर तोड़ा गया
४ अगस्त	१६७०	बीदरबख्त का जन्म
	१६७१	हिन्दू कर्मचारी हटाए गए
	१६७४	शिवाजी का राजतिलक
	१६७६	रोशनआरा की मृत्यु
	१६७७	शाही दरबार में बहुत सादगी के आदेश
१० दिसम्बर	१६७८	जसवन्तसिंह की मृत्यु; जसवन्तसिंह के पुत्रों को मुसलमान बनाने का प्रयत्न और हिन्दू-विरोध
९ अप्रैल	१६७९	जजिया लगाया गया
	१६७९	दुर्गादास द्वारा अजीतसिंह को दिल्ली से निकालना
५ अप्रैल	१६८०	शिवाजी की मृत्यु
२२।२९ (?) अक्तूबर	१६८०	राणा राजसिंह की मृत्यु
१ जनवरी	१६८१	अकबर का द्रोह
६ सितम्बर	१६८१	जहाँनारा-निधन

*

परिशिष्ट २ [टिप्पणियाँ]

क्र.सं. पृ.सं.

१ ९ रत्नावली—कविता—'यवनिका' में (तुलसीदास की पत्नी)
२ ९ बन्धन—खण्ड-काव्य—नायक-नायिका जहाँगीर-नूरजहाँ
३ ९ विसर्जन— कविता—कुन्ती के पुत्र कर्ण की जन्म-कथा
४ ९ चीर-हरण—कविता—सन सत्तावन की छाया में—नायिका द्रौपदी
५ ९ वर्जित देश—खण्ड-काव्य—नायिका राधा
६ ९ पटाचारा—कविता—'मृगजल' में—बौद्ध-भिक्षुणी
७ १० उब्बरिका—कविता—'मृगजल' में—कोसल देश की रानी
८ ११ दिग्वसना—खण्ड-काव्य—बौद्ध भिक्षुणी
९ १४ जे. कृष्णमूर्ति—जिद्दू कृष्णमूर्ति,—ऐड्यार (मद्रास) के एक थियोसोफिस्ट ब्राह्मण की आठवीं सन्तान। विशप लैडवीटर ने इन्हे समुद्र तट पर बालकों के बीच देखकर यह घोषणा की कि यह बुद्ध के अवतार है। श्रीमती एनी बेसेंट ने इन्हे गोद लिया था। कृष्णमूर्ति विश्व के अत्यन्त सुलझे हुए विख्यात विचारक हैं।
१० १५ The First and Last Freedom—लेखक : कृष्णमूर्ति
११ १६ सामूगढ़—चम्बल के तट पर युद्ध-क्षेत्र जहाँ दारा की पराजय हुई
१२ १६ कोयल—जहाँनारा की दासी
१३ १६ छत्रसाल हाड़ा—बूँदी के राजा—जहाँनारा के प्रेम-पात्र, 'दुलेरा' और 'राखीबन्धु' भी इन्ही के लिए प्रयुक्त हुए है।
१४ २४ कुरंमदेवी—कथा अभिशाप सर्ग मे हो गई थी।
१५ ३२ बिहारीमल—आमेर के राजा
१६ ३३ मयूर—प्रसिद्ध मयूर सिंहासन, जिसका निर्माण शाहजहाँ ने कराया था।
१७ ४७ सीकरी—फतहपुर-सीकरी अकबर ने बसा कर अपनी राजधानी बनाया था—'विद्युत सर्ग' मे वर्णन
१८ ६५ राफिजी कुश—औरंगजेब के मन मे अपनी प्रजा के विशाल बहुमत अर्थात हिन्दुओं के प्रति जितनी उग्र घृणा थी, इतनी ही अरुचि उसे शियाओ से भी थी ..वह शियाओं को नास्तिक (राफिजी) समझता था—अपने एक दूसरे पत्र में वह बताता है कि किस प्रकार उसने एक कटार का नाम "शियाघातिनी" (राफिजी कुश) रखना पसद किया—औरंगजेब के उपाख्यान—ज. सरकार पृ. १२-१३

१९ ६६ लाभ—मई १६४४ में शाहजहाँ के दारा के प्रति प्रक्षपात के विरोध में राजकुमार औरंगजेब ने अपना पद छोड़कर आगरा में एकान्त जीवन बिताना शुरू किया। रुष्ट सम्राट् ने उसको सूबेदारी, जागीर और भत्ता तीनों से वंचित कर दिया। २५ नवम्बर को जहाँनारा भयानक रूप से जल गई थी। उसके स्वस्थ होने पर उसके आग्रह पर शाहजहाँ ने उसे १६ फरवरी १६४५ ई. को उसे गुजरात की सूबेदारी देदी (तिथियों मे गड़बड़ है)। [अन्यत्र जहाँनारा के जलने की तिथि २६ मार्च १६४४, और उत्सव की तिथि २५ नवम्बर १६६४ है] —औरंगजेब के उपाख्यान पृ. २

२० ११५ त्रिशंकु—एक सूर्यवंशी राजा, जिन्होने सदेह स्वर्ग जाने की कामना से यज्ञ किया पर देवताओं के विरोध के कारण इन्द्र के द्वारा ढकेले जाने पर आकाश से गिर रहे थे। विश्वामित्र ऋषि ने इन्हें अपने योगबल से मार्ग मे ही रोक दिया था।

२१ ११८ नजवतखाँ—बल्ख राजवंशी—मुगल साम्राज्य के अमीर, औरंगजेब के मित्र, दारा के विरोधी, जहाँनारा से विवाह के इच्छुक

२२ १२३ जाफ़रखाँ—मुगल साम्राज्य का अमीर, औरंगजेब का मित्र

२३ १२४ खलिलुल्लाखाँ—मुगल साम्राज्य के एक प्रमुख अधिकारी

२४ १२५ शाइस्ताखाँ—नूरजहाँ के बन्धु

२५ १३६ मीरजुमला—शाहजहाँ के एक अमीर—औरंगजेब के पक्ष के

२६ १४४ अमीनखाँ—मीरजुमला के पुत्र

२७ १४५ 'जुमा मसजिद निज निर्मित'—मुग़लवंशीय सौन्दर्य और कलाप्रेमी थे। शाहजहाँने अनेक प्रसिद्ध भवनों का निर्माण कराया था। जहाँनारा ने भी अनेक भवन, मसजिद, सराय आदि जनता की सुविधा के लिए बनवाए थे।

२८ १७६ रुस्तमखाँ—सम्राट् शाहजहाँ की सेना का एक स्वामिभक्त अधिकारी

२९ १७८ सिपरशिकोह—दारा का छोटा पुत्र

३० १९२ 'सप्ताह'—२९ मई १६५८ को सामूगढ़ में दारा की पराजय के बाद ८ जून को शाहजहाँ को बन्दी बनाया

३१ १९३ 'क्रीत'—दारा की सामूगढ पराजय के बाद औरंगजेब ने आगरा नगर और दाराशिकोह के भवन पर अधिकार कर लिया। दुर्ग में गोलन्दाजो को उत्कोच देकर क्रीत कर लिया। दुर्ग में भोजन और पेय जल का अभाव हो गया तो सम्राट् शाहजहाँ ने समर्पण कर दिया।

३२ २३६ जाल बेगम—दारा की पुत्री जहानजेब बेगम, विवाह औरंगजेब के पुत्र मुहम्मदआजम से हुआ। इनका पुत्र बीदरबख्त था। ये तीनो औरंगजेब को बहुत प्रिय थे।

३३ २३६ *'अर्थजाल'*,*'इन्द्रजाल'*—*शपथ द्वारा या मिथ्या पत्राचार*—*इन्द्रजाल* उत्कोच एवं साम्पत्तिक प्रलोभन से अपनी ओर करना—अर्थजाल

३४ २४३ बल्ख—तैमूर के शाही घराने का मूल स्थान

३५ २५६ 'जुलाहे'—कबीर

परिशिष्ट ३

सहायक ग्रन्थ एवं लेख

१ शाहजहाँ—बी. पी. सक्सेना

२ औरंगजेब—यदुनाथ सरकार

३ मुगलक्षय और उसके कारण—प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति

४ मुगलकालीन भारत—आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

५ मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन—डा० रामप्रसाद त्रिपाठी

६ औरंगजेब के उपाख्यान—जदुनाथ सरकार

७ Aurangzeb—S. Lane Pool

८ History of Shahjahan of Delhi—B. P. Saksena

९ राजपूताने का इतिहास—जगदीशसिंह गहलोत

१० जहाँनारा की आत्मकथा—केशवकुमार ठाकुर

११ Jahanara Begum : The Moghul Antigone – By Dhan Keswani [The Hindustan Times, Sunday Magazine, Sunday, January 7, 1963.]



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	२४	सयाधि	समाधि
८	१५	गुप	गुण
११	३	महो काव्य	महाकाव्य
११	१२	महत्	महत्
१४	अन्तिम	noe	one
१४	"	escape	escapes
६२	१७	अगोचर गोचर	अगोचर
६३	१	गाय	गाथ
६४	२०	ममता	समता
६६	१०	विया	क्रिया
६७	२१	हरिणी	हरिणी
९३	२२	पूर्णी	पूर्णी
१०७	१४	दप	दर्प
१०८	२४	मत	मन
१२१	१६	मधीम	ममीम

१ हिन्दी काव्य में यमुना-वर्णन
[आलोचना]
मूल्य—२. ५०

२ बन्धन
[खण्ड-काव्य]
मूल्य—१. ५०

३ सन् सत्तावन की छाया में
[कविता-संग्रह]
मूल्य—३. ५०

४ यवनिका
[कविता-संग्रह]
मूल्य ४. ००

५ द्वासुपर्णा (तमिस्रा एवं उन्मेष)
[गद्यगीत]
मूल्य—६. ००

६ वर्जित देश एवं दिग्वसना
[खण्ड-काव्य]
मूल्य—५. ००

७ मृगजल
[कविता-संग्रह]
मूल्य—१२. ००

८ दृष्टिकोण
[समीक्षात्मक निबन्ध-संग्रह]
मूल्य—१२. ५०

९ आग और आँसू
[महाकाव्य]
मूल्य—१६. ००